
यशस्वी
प्रियदर्शी
सितारे
साध्वी हर्षप्रियाश्री

शासन प्रभाविका साध्वी

श्री जशवन्त श्री जी महाराज



जन्म

गुजरांवाला (पाकिस्तानमें)

दीक्षा

पालीताणा/वि.सं. २००१

पदवी

शासन प्रभाविका

(बीकानेर) १९.१.९२

कालधर्म

सुरेन्द्रनगर. १६.१.९३


यशस्वी
प्रियदर्शी
सितारे

"श्री वीतरागाय नमः"

"श्री आदिनाथाय नमः श्री वासुपूज्यस्वामिने नमः"

"श्री आत्म वल्लभ-समुद्र-ईन्द्र० सद्गुरुभ्यो नमः"

यशस्वी प्रियदर्शी सितारे

-: लेखिका :-

शासन प्रभाविका

सा. जशवन्त श्री जी महाराज की

प्रथम शिष्या

साध्वी श्री प्रियदर्शना श्री जी महाराज

की

अन्तेवासिनी

साध्वी हर्षप्रिया श्री जी म0

-: प्रकाशक :-

श्री आत्मानंद जैन सभा, लुधियाना

शुभाशीषदाता

सन शिरोमणि जैन दिवाकर गच्छाधिपति
भगवान श्री मद्विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वर जी म.

तथा

ध्याननिष्ठ योगी आचार्य

श्रीमद् विजय जनकचंद्र सूरीश्वजी म०

प्राप्तिस्थान :-

(१) श्री आत्मानंद जैन पंजाबी यात्रिक भवन
(पंजाबी धर्मशाळा)
तलहटी रोड, पालिताणा-364 270
दूरभाष : (02848) 52141

द्वितीय आवृति 1100
संस्करण : स्वर्गरोहण शताब्दी वर्ष
ई. सन् 1996
वीर सं. - 2523
मूल्य : 100 रुपया

मुद्रक
निलम प्रिन्टरी प्रेस
पालीताणा ३६४२७०
फोन (०२८४८) ४२०४०

"जयन्तु वीतरागा : । "

"श्री आत्म -वल्लभ - समुद्र सद्गुरुभ्यो नमः ।"

परम पूज्य गच्छाधिपति आचार्य विजय इन्द्रदिन्नसूरी0जी-

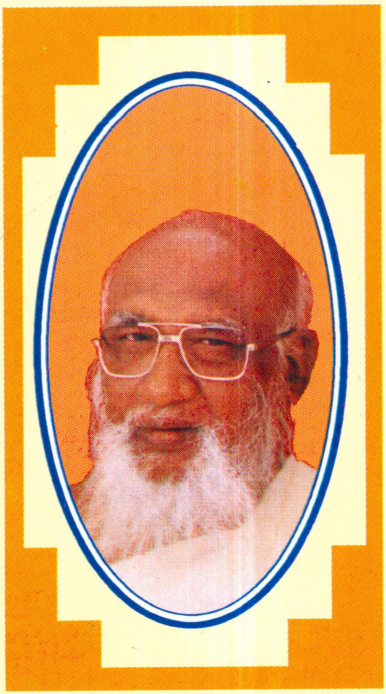
महाराज का —

"आशीर्वचन"

यथा पुष्पवाटिका में नानाविध, रंग बिरंगे, खिले हुए पुष्प, अपनी सुवास से बगिया को महका देते हैं, वीणाकी मधुर स्वर लहरियां सारी जनमेदिनीको मुग्ध कर देती हैं, तथैव विशिष्ट गुणों से ओतप्रोत जीवन, सम्पूर्ण समाज रुपी उपवन को सुवासीत कर देता है । इस विश्व में कुछ एसेही महामहिम महापुरुषों ने जन्म लिया, जिन्होंने अपनी कार्यदक्षता, अपने विरल व्यक्तित्व तथा अपने चारित्रिक गुणों से विश्व को जीवन विकास अथवा आत्मशुद्धि के पथ पर अग्रेसर होने का सत्पथ दिखलाया ।

ऐसी दिव्य विभूतियों की पवित्र लड़ी की कड़ी में न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद विजयानन्द (आत्मारामजी) सूरीश्वरजी का नाम निष्ठा से लिया जाता है ।

स्वर्गारोहण -शताब्दि समापन प्रसंग पर, शासन प्रभाविका साध्वी यशवन्त श्री जी महाराज की प्रशिष्या स्वाध्याय शीला साध्वी श्री हर्षप्रियाश्री जी ने "यशस्वी प्रियदर्शी सितारे" नामक पुस्तक लिख कर अपने प्राप्त अवसर का सदुपयोग किया है ।



मुझे आशा ही नहीं अपितु पुर्ण विश्वास है कि स्वाध्याय प्रेमी लोग इस पुस्तक से नई प्रेरणा प्राप्त करेंगे और साध्वी जी के इस प्रथम प्रयास को उत्साहित करेंगे ।

यही शुभ मंगल कामना ।

—विजय इन्द्रदिन्न सूरि

अनुक्रमणिका

(1) "गुरु विजयानंद स्वर्गारोहण शताब्दी समापन दिवस".....1
(2) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सूरि.....15
(3) श्री कुमारपाल महाराजा.....51
(4) महामहोपाध्याय पू. यशोविजय जी म०.....39
(5) उदयन मन्त्री की अन्तिम भावना.....89
(6) आचार्य पादलिप्त सूरि.....106
(7) पेथडशा मन्त्री.....113
(8) "आर्द्र कुमार" 143
(9) मुनि अरणिक.....157
(10) श्री गौतम स्वामी सी लब्धि होवे.....162
(11) बुद्धि की कसौटी.....172
(12) चित्रसेन पद्मावती.....182
(13) आचार्य वादिदेव सूरि जी म.....205
(14) अमर यश की धारिणी साध्वी
श्री यशवन्त श्री जी म० का संक्षिप्त जीवन परिचय.....214
(15) "विदुषि साध्वी श्री प्रियदर्शना श्री जी महाराज की संक्षिप्त जीवन ज्योत".....225
(16) श्री मणिभद्र वीर की उत्पत्ति.....233
(17) ऋषि अष्टावक्र.....237
(18) खेमा देदरानी.....243
(19) कवि कालिदास की करुण मृत्यु.....249
(20) प्रश्नोत्तरी.....255
(21) श्री कृष्ण जी के जीवन के दो प्रसंग.....257
(22) ओसवाल वंश की उत्पत्ति.....265

मेरे लेखन कर्य के आद्य प्रेरणास्त्रोत,
युवा चेता प्रबोधक, स्व प्रशंसा से दूर
निःस्पृह शिरोमणि ध्याननिष्ठ योगी,
जन-जन के हितैषी आचार्य भगवन्
श्रीमद् विजय जनकचन्द्र सूरी० जी म०
के पत्र के कुछ उद्‌गार

"शुभाशंसा"

विदुषि सुविचारिका, सुचिंतिका, सुलेखिका साध्वी हर्षप्रिया श्री को विदित होवे कि तुम्हारा पत्र मिला । पढ़कर अतीव आनंदानुभूति हो रही है । पुस्तक प्रकाशन का प्रयास तुम्हारा प्रशंसनीय है । पालिताणा में रहते हुए भी तुम हर पल, हर क्षण स्वाध्याय-जप तप एवं साहित्य की साधना-आराधना एवं सर्जना में तल्लीन रहती हो, अतः साधुवाद की पात्र हो । विजयानंद पत्रिका में तुम्हारे सुन्दर और मननीय लेख देखने को मिलते हैं । आप अपने लेखों का संग्रह करके पुस्तक रुप में प्रकाशित करा सको, तो उससे समाज एवं विशेष रुप से उदीयमान पेढ़ी को विशेष लाभ होगा । मेरी शुभाशंसा एवं आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ है । सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहो । तप-जप सेवा स्वाध्याय-साधना आदि में अविराम गति से आगे बढ़ती रहो.....

यही शुभेच्छा

आचार्य जनकचंद्र सूरि

बेडा (राज०)

पावन प्रसंग



महान क्रांतिकारी-
जैन संस्कृति के देदीप्यमान सुमेरु
संयमानुरक्त, न्यायाम्भोनिधि, पंजाब-
देशो द्धारक युगप्रवर्तक परम पूज्य **आचार्य-**
श्रीमद् विजयानंद सूरी०जी महाराज
की **स्वर्गारोहण शताब्दि**
तथा
शासन प्रभाविका **सा० जशवंत श्रीजी महाराज**
व उन्हीं की प्रथम विदुषि शिष्या सा०
प्रियदर्शना श्री जी महाराज की पुण्य
स्मृति एवं **साध्वी हर्षप्रिया**
श्री जी म. की
दीक्षा रजत जयन्ति ।

स.....म.....र्प.....ण.....

८४ वर्षकी वय होने पर भी
जो युवास्फूर्ति से अपने तप–जप–
संयम की साधना के उत्कृष्ट सोपानों-
तरफ ऊर्ध्वकूच करते रहे,
जिनका बहुआयामी जीवन
चारित्र की चादर ओढ़ने में
मेरा प्रेरणा-प्रदीप बना,
ऐसे अज्ञान तिमिर तरणि
मध्यम वर्ग के मसीहा
प्रखर शिक्षा प्रेमी
कलिकाल कल्पतरु
युगद्रष्टा, पंजाब केसरी
परम पूज्य, परम श्रद्धेय
जन-जन के वल्लभ
आचार्य **विजय वल्लभ-**
सूरीश्वर जी महाराज के
पावन पाद-पद्मों में
"यशस्वी प्रियदर्शी सितारे"
नामक यह पुस्तक
सादर-सविनय-सभक्तितः
समर्पण करके कृतज्ञता-
का अनुभव करती हुई-
सदैव कृपाकांक्षिणी—



चरण सेविका
साध्वी हर्षप्रिया श्री की कोटिशः वन्दनावलि !!!

*



वल्लभसूरि

आमुख

अंग्रेज़ कवि Long Fallow ने कितना सत्य और यथार्थ कहा है :—

Lives of great men all remind us
We can make our lives sublime,
and depasting leave behind us
Foot Prints on the sands of time.

महापुरुषों का जीवन हमें हमेशा याद दिलाता रहता है कि यदि हम उनके महान जीवन का अनुकरण कर लें, तो हम भी अपने जीवन को आदर्श एवं अपने पीछे उन्हीं की तरह समय की रेती पर अपने पदचिन्ह सदा-सदा के लिए छोड़ सकते हैं।

विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं कि जिसमें महापुरुषों का उल्लेख न हो। उनका जीवन प्रकाश-घर (दीवा दांडी) की तरह पथ भटके पथिकों को सही मार्ग निर्देश करता है। महापुरुषों के गुणों को, उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारना जैन संस्कृति की ही नहीं, भारतीय संस्कृति की विशिष्ट परम्परा रही है। क्योंकि :—

"जिन उत्तम गुण गावतां गुण आवे निज अंग।"

महा विद्वान् मुनिराज श्री पद्म विजय जी महाराज, श्री आदीश्वर भगवान के स्तवन में कहते हैं कि हे प्रभो! मैं आपके गुणों को इस लिए गा रहा हूं कि मेरे जीवन में भी उन गुणों का प्रवेश हो सके।

वस्तुतः महापुरुषों का जीवन सुवासित पुष्प सदृश होता है। हमारा लक्ष्य उन पुष्पों में से पराग ग्रहण करना है ताकि हम भी अपने जीवन को उस पराग से संस्कारी तथा उच्च बना सकें।

ऐतिहासिक कथाएँ व महापुरुषों के जीवन चारित्र मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ते हैं। पाठक भौतिकता के दायरे से बाहर निकल कर यथार्थ के प्रति चिन्तन करने को बाध्य हो जाता है।

'यशस्वी प्रियदर्शी सितारे' नामक यह पुस्तक भी महापुरुषों के जीवन का संकलन ही है। इस पुस्तक की लेखिका हैं ख्यातनामा विदुषि साध्वी जी श्री हर्षप्रिया श्री जी म०, जो सतत "विजयानन्द मासिक पत्रिका" में लिखती रह कर साहित्य साधना में रत हैं।

सशक्त लेखनी की स्वामिनी इन साध्वीजी ने इस पुस्तक में पंजाब देशोद्धारक, नवयुग निर्माता आ० श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी म० सा०, उद्भट विद्वान आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि जी म० सा०, परमार्हत् महाराजा श्री कुमारपाल, महामहोपाध्याय पू० यशोविंजय जी म० सा०, महामन्त्री उदयन, आचार्य पादलिप्त सूरि, मन्त्री पेथड़शा, आर्द्रकुमार, अरणिक मुनि, अनन्त लब्धि निधान श्री गौतम स्वामी जी, आचार्य वादिदेव सूरि जी म० तथा चित्रसेन पदमावती आदि महापुरुषों के आदर्श जीवन को आलेखित किया है।

साध्वी हर्षप्रिया श्री जी म० की लेखनी में ताज़गी है, उषा काल के सदृश। भाषा में कल-कल निनाद करते हुए झरने का प्रवाह है। विशेषता की बात तो यह है कि उन्हें विद्वत् गुरुणी परम्परा प्राप्त हुई है। वे शासन प्रभाविका साध्वी श्री जसवन्त श्री जी म० की प्रशिष्या तथा उन्हीं की प्रथम विदुषि शिष्या साध्वी श्री प्रियदर्शना श्री जी महाराज (B.A.) की सुशिष्या हैं। जैसा कि वे बताती हैं, उन्हें लिखने की सत्प्रेरणा सर्व धर्म समन्वयी, विरल योग साधक आचार्य श्रीमद् विजय जनक चन्द्र सूरीश्वर जी म० सा० से प्राप्त हुई है।

लेखिका ने 'यशस्वी प्रियदर्शी सितारे' नामक पुस्तक रूप अपनी श्रद्धा के प्रसून, इस युग के आद्य आचार्य पंजाब-देशोद्धारक, जंगम युग प्रधान, न्यायाम्भोनिधि, राष्ट्रभाषा हिन्दी के महान लेखक एवं कवि, आचार्य देवेश श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी म० सा०, जिनकी स्वर्गारोहण शताब्दी इस वर्ष सम्पूर्ण भारत वर्ष में मनाई जा रही है, के प्रति समर्पित किए हैं।

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव के समुदाय की नवोदित, प्रतिभा-सम्पन्न सशक्त कलम की धनी साध्वी जी द्वारा इस युग के महान क्रान्तिकारी, लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार एवं संवेदनशील हृदय के भाव प्रवण कवि को, इससे अधिक उपयुक्त और कौन सी श्रद्धांजलि हो सकती है?

साध्वी जी महाराज ने पुस्तक का आमुख लिखने के लिए मुझ जैसे व्यक्ति को गौरवान्वित किया है, उसके लिए मैं साध्वी जी महाराज का हृदय से आभार मानता हूं वे चाहती तो यह काम किसी भी विद्वान और प्रसिद्ध लेखक से करवा सकतीं थी, पर उनका मुझे ही यह उत्तरदायित्व सौंपना मुझ में एक नए विश्वास का संचरण करता है। अपने प्रयास में मैं कितना खरा उतर सका हूं, इसका मूल्यांकन तो स्वयं साध्वी जी महाराज ही कर सकेंगी अथवा पुस्तक-पाठक ही कर सकेंगे।

साध्वी जी महाराज का लेखन-कार्य तो पिछले कई वर्षों से बराबर चल रहा है, पर पुस्तक प्रकाशन के रूप में उनकी सशक्त लेखनी का यह प्रथम पुष्प है, प्रथम उपहार है, जो अपने गुरुदेवों के चरणों में समर्पित है और प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में है।

"यशस्वी-प्रियदर्शी-सितारे" नामक इस पुस्तक का मैं ने आद्योपान्त अवलोकन किया है। वैसे तो उनसे मेरा व्यक्तिगत रूप से इस से पूर्व परिचय न था। पर पुस्तक के अवलोकन से मैं उनकी विद्वत्ता से परिचित व आकर्षित हुआ हूं।

इसीलिए मैं चाहूंगा कि प्रबुद्ध पाठक इस अनुपम सुन्दर और प्रशंसनीय कृति का दिल खोल कर स्वागत करें। साध्वी जी महाराज को इस प्रयास के लिए अभिनन्दन, प्रेषित करें ताकि वे और अधिक उत्साह, निष्ठा और समर्पण भाव से साहित्य साधना के क्षेत्र में प्रगति कर सकें। उनकी लेखनी के माध्यम से समाज, राष्ट्र और धर्म को इससे भी उत्तम सामग्री प्राप्त हो सकें।

आमुख लिखने में यदि असावधानीवश कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए करबद्ध 'मिच्छामि दुक्कड़म्'।

नेहरु कोलोनी
फालना (राज०)

मघराज मेहता
(सेवा निवृत्त प्रधानाचार्य)

किंचित् वक्तव्य.....

समस्त जैन शास्त्रों को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है :—१. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३. चरणकरणानुयोग और ४. धर्मकथानुयोग ।

इन चारों अनुयोगों में बाल-जीवों के लिए धर्मकथानुयोग महत्त्व का है । धर्मकथानुयोग अर्थात् विश्व विराट व्यक्तियों के जीवन्त जीवन-चारित्र का खजाना । धर्मकथानुयोग इतना मधुर व सुन्दर अनुयोग है कि जिसमें से पढ़ते-पढ़ते ही वैराग्य का झरणा बहने लग जाता है । वह झरणा जीव आत्मा को संयमप्रेमी भी बना सकता है ।

कथा कहानी के माध्यम से किसी भी वस्तु-तत्त्व को सुगमता से समझा जा सकता है । बाल जीव अर्थात् पंचम आरे के मन्द बुद्धि प्राणी, महापुरुषों के जीवन प्रसंग से शीघ्र प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं ।

स्वयं मैं ही इसका उदाहरण हूं । जन्म से ही माता-पिता के सुसंस्कारों के कारण अथवा पूर्वकृत महान पुण्य के उदय से या चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से, यौवन की दहलीज़ पर पाँव रखते ही जब मुझे चारित्र की चादर ओढ़ने की अन्तः स्फुरणा हुई, तब दीक्षा की पूर्व तैयारी के अनुरुप-जीवन कैसे जीना ? क्या करना ? कैसे रहना ? दीक्षा का नाम होंठों पर लाए बिना अपने जीवन को तथा प्रकार से कैसे वैराग्यवासित बनाना कि घर वाले, सगे सम्बन्धी मेरी दिनचर्या-आचार-विचार आदि देख कर दीक्षा की आज्ञा दे दें.....यह सब मैं ने "आदर्श-जीवन" से ही प्रेरणा पाई ।

पंजाब केसरी आचार्य विजय वल्लभ सूरीश्वर जी म. का जीवन चारित्र "आदर्श जीवन" पुस्तक का बार-बार पठन-मनन व चिन्तन करते-करते

मेरा मन भी एकदम स्थिर बन गया-दीक्षा के लिए दृढ़ बन गया और.....

आज मुझे २५ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं, आनन्द पूर्वक उल्लसित मन से संयम पथ का अनुसरण करते-करते ।

जीवन के उषा काल से ही मुझे स्वाध्याय की, महान व्यक्तियों के जीवन चारित्र की व पढ़ने की रुचि रही है । लिखने की रुचि तो दीक्षा के बाद हुई । इन्दौर में मेरे परम उपकारी-बड़ी दीक्षा दाता मेरे लेखन कार्य के प्रेरणा स्त्रोत, अपर और पर को समान गिनने वाले, मेरे लेखन कार्य में नींव के पत्थर का काम करने वाले, धार्मिक शिबिरों के माध्यम से वक्तृत्वकला में नियमित उत्साह वर्धक मार्गदर्शन देने वाले, युवा-चेताप्रबोधक, स्व प्रशंसा से दूर, निःस्पृह-शिरोमणि, जनोपकारी, परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय **"जनक चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज"** के सतत मार्गदर्शन व प्रैक्टिकल प्रेरणा व कृपा से ही लिखने की रुचि जागी । उन्हीं के निर्देशानुसार विजयानन्द पत्रिका के लिए लेखन-सामग्री तब से लेकर प्रायः आज तक, भेजने का प्रयास चालू ही है । इसके लिए मेरे गुरुणी द्वय की सदैव उत्साहवर्धक प्रेरणा भी महत्त्वपूर्ण रही है ।

एक दिन मुझे विचार आया कि महापुरुषों के जीवन प्रसंग से प्रेरित होकर पाठक यदि मेरी तरह अपने जीवन का उत्थान कर सकें, आत्म विकास का चिन्तन-मनन करते अपनी आत्मा का उद्धार कर सकें तो कितना लाभ हो, इसी लक्ष्य को लेकर मेरे मन में अन्तः स्फुरणा हुई कि जब **श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी महाराज** का स्वर्गारोहण शताब्दि महोत्सव पूरे भारतवर्ष में मनाया जा रहा है तो उस महोत्सव की कार्य श्रृंखला रुपी माला में क्यों न पुस्तक रुपी एक स्थायी मोती मैं भी पिरो दूं ?

तो बस, लीजिए मेरे विकल्पों का साकार रुप, यह पुस्तक आप

के हाथों में है । प्रस्तुत कृति न तो कोई उपन्यास है, न ही यह नीरस इतिहास और न ही ये कपोल कल्पित कथाएँ मात्र हैं ।

यह है पूज्य आचार्य भगवन्तों, विद्वान मुनि महाराजों एवं विदुषि गुरुणी- द्वय के व्याख्यानों से तथा अनेक पुस्तकों के वांचन से प्राप्त की हुई सामग्री, अथवा जीवन प्रेरक महापुरुषों के व्यक्तित्व की झांकी, अथवा पुस्तक के नाम के अनुरुप, यश के धारक और अपने सद्गुणों से सबको प्रिय दिखने वाली-अनुपम जीवन जीनेवाली, विश्व की किंचित् महान विभूतियों के यशस्वी-प्रियदर्शी निर्मल जीवन की यत्किंचित् झलक.....

किंचित् मात्र झलक.....

अल्प-स्वल्प तथापि.....

परम तेजस्वी सितारों की चमक ।

मैं ने मात्र अपने शब्दों में प्रमार्जित करने का ही प्रयास किया है।

मेरे इस प्रयास को एक ऐसे महर्षि ने अपने आशीर्वचनों से उत्साहित किया है, जो ७४ वर्ष की वय में भी अपनी तप-जप-संयम साधना में युवास्फुर्ति से ऊर्ध्वकूच कर रहे हैं, हार्ट बायपास सर्जरी के बाद भी जिनकी वाणी सिंह गर्जना करती आध्यात्मिक युक्त है, जिनके आशीःपूत वासक्षेप से मेरा ५०० आयंबिल जैसा दीर्घ तप निर्विध्न सम्पन्न हुआ, जिनके तपःपूत आशीर्वचन से मुझे वर्धमान तप का पाया डालने की बलवती प्रेरणा पाप्त हुई, जिनकी पावन सुखद शीतल निश्रा में उन्हीं के साथ-साथ मुझे वर्षीतप करने का पालीताणा में सौभाग्य प्राप्त हुआ, मेरे जीवन की विकट घड़ियों में जिनका वरद हस्त सदैव मेरा सम्बल रहा है, जिनकी असीम, अमित, अखण्ड, अमी कृपा से प्रस्तुत पुस्तक आपके हाथों में है, तन से अस्वस्थ होते हुए भी जो मन से स्वस्थ, सदा

पादचारी है, जिनकी तारक निश्रामें कई लम्बे छःरी पालित संघ कई अंजनशलाका-प्रतिष्ठाएं तथा कई उपधान तप सम्पन्न हो चुके हैं । ऐसे चारित्र चूड़ामणि, शासन शिरोमणि, जन-जन की श्रद्धा के केन्द्र, परम पूज्य गच्छाधिपति आचार्य **श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वर जी म०** के ऋण से मैं कभी उऋणी नहीं हो सकती ।

इस पुस्तक के लिए सुन्दर प्रस्तावना लिखने वाले निःस्वार्थ सेवी, देव-गुरु-धर्म के प्रति समर्पित व पूर्ण निष्ठावान, उचित मार्गदर्शक व सिद्धहस्त कवि तथा लेखक, फालना के विद्वान सेवानिवृत प्रधानचार्य, आदरणीय श्री मधराज जी मेहता के सौजन्य के लिए भी आभारी हूं, जिन्होंने अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में से अमूल्य समय दे कर सुन्दर आमुख लिख कर मुझे अभिप्रेरित किया है ।

पुस्तक प्रकाशन में जिन श्रुतज्ञान रसिकों ने अर्थ-सहकार दिया है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं । उनकी नाम-सूचि साभार प्रकाशित है ।

प्रस्तुत पुस्तक को सुन्दर प्रिन्टींग, आकर्षक मुद्रण व बाइन्डिग आदि के साथ तैयार करने वाले नीलम प्रिन्टींग प्रेस वाले बिपिनभाई व कमलेश भाई की सेवा प्रशंसनीय है ।

गुण ग्रहण दृष्टि वाले पाठक इस पुस्तक का पूर्ण लाभ लेगें और सुज्ञ विद्वज्जन मेरी मतिदोष अथवा प्रमादवश हुई किसी भी प्रकार की न्यूनाधिकता अथवा त्रुटियों को क्षम्य गिनते हुए सुधारणीय सूचन देकर उपकृत करेंगें और मेरे प्रथम प्रयास को उत्साहित करेंगे,

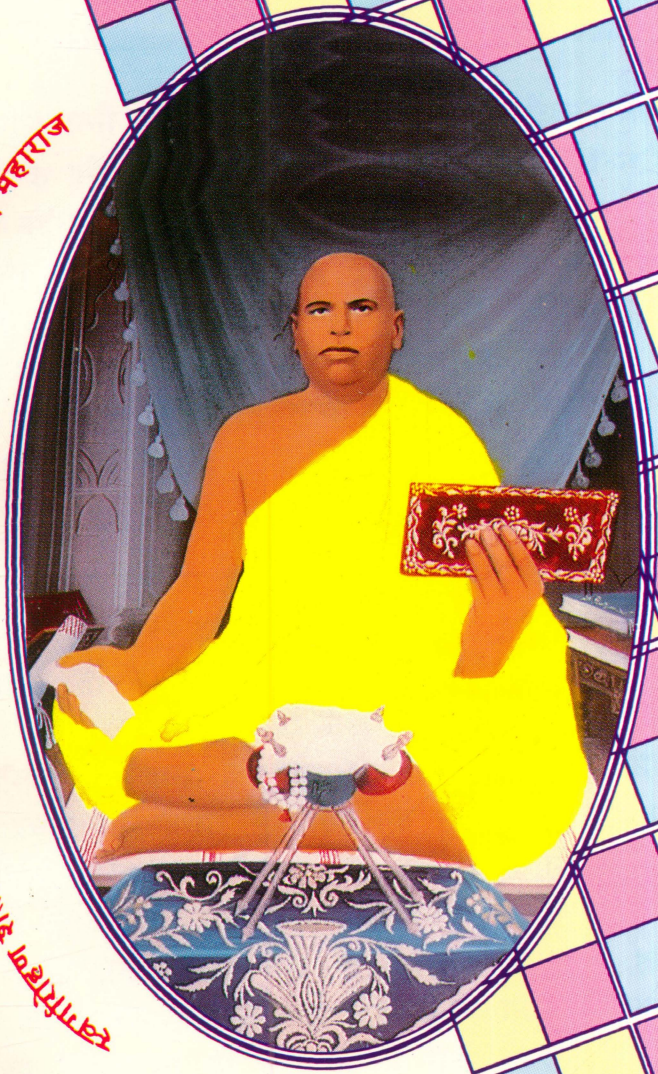
इसी आशा के साथ.....

आत्म सम्वत् १००
जेठ शुदि अष्टमी

विदुषि साध्वी प्रियदर्शना श्री जी म० की
अन्तेवासिनी (शिष्या)
साध्वी हर्षप्रिया श्री

गुरु विजयानन्द सूरी० जी महाराज का मिताक्षरी जीवन

		वि० सं०
जन्म	:	1893 चैत्र शुदि एकम, लहरा गाँव
पिता का नाम	:	गणेशदासजी
माता का नाम	:	रुपा देवी
दीक्षा (स्थानकवासी)	:	1910 मालेर कोटला
विचार परिवर्तन	:	1920 आगरा, मुनि रतनचंदजी से वार्तालाप
स्व विचार संगठन	:	1928 तक बीस साधु व सात हजार श्रावक
तीर्थयात्रा निर्णय	:	1931 होशियारपुर
मुंहपत्ति त्याग	:	सुनाम से हांसी आते रेत के टीले पर
संवेगी दीक्षा	:	1932 अहमदाबाद, पन्द्रह साधु साथ
नाम	:	आनंद विजय
गुरु नाम	:	बूटे राय जी म०
गिरिराज यात्रा	:	1933 अब तो पार भये- हम साधो.....(गाते हुए)
न्यायाम्भोनिधि पद	:	1940 जोधपुर
आचार्यपद	:	1943 पालिताणा
चिकागो विश्वधर्म परिषद् का निमंत्रण	:	1949 होशियारपुर 'चिकागो प्रश्नोत्तर' लिख कर वीरचंद राघव जी गांधी को भेजा
स्वर्गवास	:	1953 गुजरांवाला, जेठ शुदि अष्टमी.

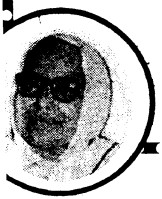


स्वर्गारोहण शताब्दि-नायक न्यायाम्भो निधि श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी महाराज

"गुरु विजयानन्द स्वर्गारोहण शताब्दी समापन दिवस"

गु--गुण-रत्नों की खान, गुरु विजयानन्द सूरीश्वर जी महाराज, गुणवानों के प्रति गच्छ या सम्प्रदाय के भेद को महत्व न देने वाले, जन्म से लहरा (पंजाब), दीक्षा से मालेर कोटला और कालधर्म से गुजरांवाला को धन्य बनाने वाले, सुनाम से हांसी के मार्ग पर, मुंह पर बंधी मुंहपत्ती का धागा तोड़ने वाले, रुढ़ीवादी विचार व मान्यताओं पर शुद्ध कठोर प्रहार करने-कराने वाले, जैन समाज व संस्कृति को शास्त्र - सम्मत सत्य के ढांचे में ढालने वाले, महान क्रान्तिकारी पुरुष थे ।

रु --- रुपा देवी मां के लाल ने, रुचिपूर्वक गहन शास्त्राभ्यास करने के बाद जनता में शुद्ध धर्म के संस्कारों की दृढ़ नींव डालने के लिए वि.सं. १९२४ में बिनौली (U.P.) में हिन्दी भाषा में कलम उठाई तो जीवन के अन्त समय पर्यंत लिखते रहे । आप भली-भान्ति जानते थे कि जहां लेखक नहीं पहुंच सकता, वहां उस का साहित्य पहुंच जाता है । अपने साहित्य के द्वारा आपको जैन धर्म के प्रचार और प्रसार में अत्यधिक सफलता मिली । मूर्तिपूजा बारे आपकी पुस्तक पढ़ कर कई स्थानक वासी साधु, संवेगी परम्परा में दीक्षित हो गए थे । "अज्ञान -तिमिर-भास्कर" पढ़कर कई हिन्दू सन्यासी, जैन धर्म के प्रशंसक बने थे । विश्व में पाण्डित्य का शंखनाद करने वाले दिग्गज विद्वान श्री योग जीवानन्द स्वामी, श्री आत्माराम जी म० के दो ग्रन्थ - जैन तत्वादर्श और अज्ञान तिमिर तरणि-को पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुए थे । " तत्व निर्णय प्रसाद" में उन का पत्र ज्यों का त्यों प्रकाशित किया गया



यशस्वी प्रियदर्शी सितारे

है । इस पत्र का लेखक कोई सामान्य नागरिक या पथिक नहीं, अपितु जैनेतर जगत की जानी मानी हस्ती थी ।

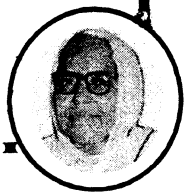
यहां तक कि आपकी प्रतिभासम्पन्न मेधा से पाश्चिमात्य विद्वानों के हृदय भी अछूते न रहे थे । इस बात का अनुमान हम उन विद्वानों के पत्र व्यवहार से लगा सकते हैं । ऐसा ही एक पत्र है :--

No man has peculiarly indentified himself with the interest of the Jain Community as Muni Atmaramji. He is one of the noble band sworn from the day of intiation, to the end of life to work day and night for the high mission they have undertaken. He is the high priest of the Jain community and is recognised as the highest living authority on jain religion and literature by oriental scholars.

(जैन संघ के हितार्थ सदा - सर्वदा जागृत एवं तल्लीन रहने वाले मुनि आत्माराम जी सदृश अन्य कोई पुरूष नहीं है । अपने साध्य की प्राप्ति हेतु दीक्षा के शुरू से जीवन की अन्तिम सांस तक रात दिन अहर्निश, कार्यरत वह एक प्रतिज्ञाबद्ध महानुभाव हैं । जैन संघ के तो वे सर्व मान्य एवं पूजनीय पुरुष हैं ही, किन्तु जैन धर्म एवं जैन साहित्य के संबंध में पौर्वात्य विद्वानों की दृष्टि में वह एक प्रमाणभूत व्यक्तित्व है ।)

विद्वानों के मन में इस तरह अपना गौरवपूर्ण स्थान जमाना कोई खाला जी का घर नहीं ।

वि--- विद्वान्-मानव समूह के आदरणीय, विद्वद्शिरोमणि क्षत्रिय कुल में जन्म लेने वाले श्री आत्माराम जी म० में सत्यका



साक्षात्कार हो जाने पर,पूर्वाग्रह का त्याग करने के लिए एक विशेष नैतिक साहस था । इसी साहस के कारण, काल आपके कीर्तिकलेवर का अंत नहीं कर सका । अक्षय अक्षरों में निबद्ध आपका साहित्य कभी भी विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं हो सकता ।

ज --- जन्म-जाति से क्षत्रिय होने के नाते आपकी नस-नस में वीरोचित निर्भयता और सत्यनिष्ठा थी । सच्चाई के लिए आपका प्रेम निःसीम था। सत्यार्थ की खोज में आपने अपने तन की भी परवाह न की । शास्त्रों के सच्चे अर्थ की खोज में आप स्थान - स्थान पर घूमा करते थे । जहां भी किसी विद्वान् साधु या श्रावक का नाम सुनते, वहीं पहुंच जाते । अनुमान लगाइए कि किसी भी प्रकार की सवारी पर न चढ़ने वाले साधु के लिए, यह यात्रा कितनी यातनाओं से परिपूर्ण थी । आपका एक ही निश्चय था :-

कार्यं वा साधयेयम् देहं वा पातयेयम् ।

इस निश्चय के अनुसार आपने अनेक कष्ट सह कर भारत भर में विशेषकर पंजाब में जैनधर्म का झण्डा फहराया था । आपके पंजाबी शरीर में लोहे का सा हृदय और सिंह की सी वीरता थी । सत्य के प्रति प्रेम और ठोस ज्ञान ही आपके अचूक शस्त्र थे । शुद्ध चारित्र की इस प्रतिमूर्ति के प्रयासों की सफलता के साक्षीभूत आज पंजाब में सैंकड़ों मन्दिर व लाखों मूर्तिपूजक घर हैं ।

या ---- यात्रा करने का निर्णय होश्यारपुर में सं० १९३१में लिया गया । सं. १९३२ में अहमदाबाद में पन्द्रह साधुओं सह श्री बूटेराय जी म० से संवेगी दीक्षा ली । नाम आनन्द विजय जी रखा गया । १९३३ में शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा की । दादा आदिनाथ



के आगे रोते हुए अपनी व्यथा :- 'अब तो पार भये हम साधो' -पद में व्यक्त की ।

न --- नव-चेतना का नगर - नगर, गांव - गांव में बिगुल बजाते हुए, प्रभु वीतराग की वाणी का सन्देश जन - जन को देते रहे । आप की वाणी ही नहीं. जीवन भी बोलता था । वाणी में चमत्कार था । आपका यह धर्म प्रचार भारत तक ही सीमित न रहा । विदेशों में भी आप की विद्वता की धूम मच गई । सम्वत १९४९ में विश्व धर्म परिषद में आपको निमन्त्रण आया, परन्तु अपनी धार्मिक मर्यादाओं का पालन करते हुए, आपने स्वयं आने में असमर्थता प्रगट की तथा अपने प्रतिनिधि के रुप में श्रीयुत वीरचन्द राघव जी गांधी को, उस विशाल अधिवेशन में खूब परिश्रम पूर्वक तैयार कर के, भेजा । उस समय भी बम्बई के कई लोगों ने इस बात का विरोध किया ।

वापिसी पर भी वीरचन्द राघव जी को संघ-बहिष्कृत करने की तैयारी की गई । उस समय बम्बई में बिराजमान पूज्य मोहनलाल जी म० से परामर्श रुप पूछा : "हम क्या करें ?" तब वे बोले कि "इसे श्री आत्माराम जी म० ने विलायत भेजा है, जो कि असाधारण विद्वान और महान आचार्य हैं । अतः आप उन्हीं से पूछो । "

इस पर आप श्री जी को पत्र लिखा गया । आप अम्बाला में थे । आपने इसका उत्तर इतना सामयिक व सुन्दर दिया कि बम्बई श्री संघ विचार में पड़ गया । रुढ़ीचुस्त ठण्डेगार बन गए और संघ से बाहर करने की बात रद्द हो गई । तेजस्वी शब्द थे गुरुदेव के :--

---"याद रखना, धर्म के वास्ते श्रीयुत गांधी तो समुद्र पार अमेरिका - चिकागो-धर्म परिषद में गया । मगर थोंड़े ही अर्से में



एक समय ऐसा आवेगा कि अपने मौज - शौक के लिए, ऐशोराम के वास्ते, व्यापार रोजगार के लिए, समुद्र पार विलायत आदि देशों में जावेंगें । उस वक्त किस-किस को संघ -बाहर करोगे ? ''

आदि शब्द आज सत्य सिद्ध हो रहे हैं । जिन महानुभावों ने पूज्य श्री जी के उक्त प्रस्ताव का कट्टर विरोध किया होगा, उन के ही सगे सम्बन्धी, उन्हीं के बच्चे और निकट के परिचित कितनी ही बार विदेश भ्रमण कर आए होंगे ।

पूज्य श्री जी भली भान्ति समझते थे कि नए चिन्तन का प्रारम्भिक स्वागत दुनिया में प्राय : विरोध से होता है । आप तो स्वयं युगनेता थे, अपने समय से पर थे । संघ और समाज के विरोध का गरल हंसते -हंसते पान करने की क्षमता और शक्ति से युक्त थे । धन्य ऐसे नरवीर !

न---न्यायाम्भोनिधि पद से १९४० में जोधपुर की जनता ने विभूषित किया ।

द---दर्शन - धर्म - साहित्य और इतिहास सम्बन्धी आप तत्कालीन जीवित विश्वकोष थे । अपने अगाध पाण्डित्य के कारण ही जैन समाज में नवयुग-प्रवर्तक बने । एक सुविज्ञ वैद्य की भान्ति आपने जैन समाज की नाड़ी देखी । रोग का अनुभव किया और औषधि भी निश्चित कर दी । मानो आप चलता फिरता आगम - ज्ञान हों ।

स्वर् --- स्वर्गीय श्री वीरचन्द राघव जी गांधी बार-एट-लॉ को कतिपय संगी साथियों से परामर्श करके अमेरिका प्रेषित करने का निश्चय पूज्य श्री ने जब किया तो उनकी धार्मिक जानकारी के लिए आप श्री जी ने अथक परिश्रम करके ''चिकागो-प्रश्नोत्तर '' नामक पुस्तिका तैयार की । कई महत्त्वपूर्ण सूत्रों में निहित जैन



शास्त्र सिद्धान्तों से अवगत किया । आप श्री जी को प्रस्तुत कार्य में जैन एसोसिएशन ऑफ इंडिया के कार्यवाहकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ ।

पूज्य श्री जी की प्रेरणा तथा अद्‌भुत मार्गदर्शन के परिणाम स्वरुप श्री गांधीजी को अपने कार्य में आशातीत सफलता प्राप्त हुई । विश्व ने एक बार फिर से जैन धर्म की गरिमा को जाना -समझा । वर्तमान में स्थान-स्थान पर जैन पाठशालाएं चालू हैं । विद्वान साधुओं की भी कमी नहीं है । आवश्यकता है युवा-वर्ग में ऐसा ओज भरने की, जैसा कि शताब्दी नायक ने स्व.श्री वीरचन्द गांधी में भरा था । यदि ऐसा हो सका तो देश के कोने कोने से हमें अनेक वीरचन्द राघव गांधी दिखाई देंगें ।

गा ---- गायक की शैली में प्रायः आप का व्यारव्यान होता था । आपका स्वर मधुर था और ध्वनि मीठी । भारवि की लय में व्यारव्यान में ऐसा रंग जमाते, ऐसी भावोर्मियों की छटा बिखरते कि श्रोताजन मन्त्र-मुग्ध हो, डोलने लग जाते, बार-बार सुनने को लालायित रहते ।

रो ---- रोपड़ में व्याकरण का कुछ अभ्यास करने से आपके हृदय में जैनधर्म के वास्तविक स्वरुप के विषय में जब शांत - विद्रोह का बीजारोपण हुआ, तो आगरा चातुर्मास में आगम-शास्त्रों के पारंगत, वर्षों के अनुभवी, वयोवृद्ध पण्डित सन्त श्री रत्नचन्द जी सदृश सुयोग्य शिक्षक ने उस बीज को अनुकूल हवा पानी दे कर सिंचित अंकुरित एंव पल्लवित किया । आप श्री जी को नव दृष्टि मिली ।

ह ----- हस्तलिखित प्राचीन जैन धर्म की सामग्री को भण्डारों से आपने बाहर निकालने पर बल दिया । विशेष रूप से पाटण



में दुर्लभ - प्राचीन शास्त्रोंकी जर्जरित दशा देखकर अपने दो विद्वान् शिष्य, मुनि श्री कांति विजय जी व हंस वि० जी को आगमों के उद्धार व संशोधन की जिम्मेदारी सौंपी । मुनि श्री चरण वि० जी व सम्पत वि० जी ने साथ रहकर आगमोद्धार का महान कार्य किया । पू० कांति वि० जी म० के बाद उनके शिष्य आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्य वि० जी ने यह कार्य किया । पंजाब केसरी आ०वि० वल्लभ सूरी०जी.म० की सत्प्रेरणा से पाटण में 'आचार्य हेमचन्द्र सूरि ज्ञान मन्दिर' का निर्माण हुआ है, जो इस कार्य का ज्वलन्त उदाहरण है । पाटण, जैसलमेर, अहमदाबाद (एल.डी.) खंभात, छाणी, लींबड़ी और बडौदा में जो आगम-शास्त्र संरक्षित है, उनके मूल प्रेरक पू० विजयानन्द सूरी० जी ही हैं ।

ण ---- णमोकार-मन्त्र भी जिन्होंने प्रायः आठ वर्ष की अवस्था में सीखा, वे एक दिन जैन धर्म के दिग्गज विद्वान बनेंगें, ऐसी कल्पना भी न थी । एक दिन में तीन सौ श्लोक कंठस्थ कर लेते थे ।

श ---- शताब्दी समापन दिवस जेठ शुदि अष्टमी को है जिनका, ऐसे पुण्य पुरुष, आगम मर्मज्ञ, शास्त्रार्थ निपुण, अनन्त मनोबली, दृढ़ संकल्पी महान तेजस्वी, एक शताब्दी पूर्व जैन धर्म को विश्व के रंग मंच पर लाने वाले, आप ही आद्य जैनाचार्य थे ।

ता ---- तार्किक प्रभा के धनी ऐसे आपने, तात गणेशचन्द जी से विरासत में मिली इस तार्किक प्रभा का, जीवन में सदुपयोग ही किया । वार्तालाप के समय नवनीत से भी मृदुल और पुष्प से भी कोमल व्यवहार होता परन्तु तर्क एवं विचार -चर्चा के समय वज्र से भी कठोर और चट्टान से भी अधिक दृढ़ हो जाते । सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान और तर्क से कइयों को पराजित किया परन्तु उनके प्रति, सहज स्नेह-भाव के प्रति कोई कमी नहीं आती



थी ।

क्रान्त विचारक दीर्घदर्शी, वाणी तेरी अमृतवर्षी ।

एक बार एक महाशय, जो पूरे चलते पुर्जे थे और थे स्थानकवासी आम्नाय वाले । गुरुदेव (आप) के पास उपस्थित हुए । थे तो पढे लिखे, पर शास्त्र-ज्ञान से प्रायः कोरे थे । उन्होंने आते ही आपसे प्रश्न किया :- " महाराज ! मैं आपसे बहस करना चाहता हूं । परन्तु वह शास्त्रों के आधार पर न होकर केवल तर्क के आधार पर होगी ।

गुरुदेव :- " ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा ।"

"फूलों में जीव होता है और आप उन्हें मूर्तियों पर चढ़ाने का उपदेश देते हो । क्या इसमें आपको हिंसा का दोष नहीं लगता?"

" मुझे फूलों के जीव को तो पहले दिखा दो, तब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूं ।"

" वाह ! जीव तो होता ही है ।"

" इसका प्रमाण क्या है ?"

" सारे शास्त्रों में लिखा है । सब मानते हैं कि फूलों में जीव है ।"

" भाई ! तुम तो शास्त्रों को मानते नहीं हो । फिर किसलिए शास्त्रोंका प्रमाण देते हो । तर्क से सिद्ध करके बताओ ।"

सुनते ही वे महाशय लज्जित हो गए और उठ कर चलते बने । बाद में तो वे गुरुदेव के विचारों के पक्ष वाले बन गए । इस तरह तर्क से भी दो वाक्यों में सामने वाले को निरुत्तर कर देते थे ।



बू ---- ब्याह-शादियों पर व्यर्थ खर्च करना, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, पर्दे की प्रथा आदि अनेक कुप्रथाओं का मूल से उच्छेद करने का आपने भरसक प्रयत्न किया ।

दी ---- दीक्षा के कुछ वर्ष उपरान्त २६ वर्षीय साधु श्री आत्माराम जी का नया जीवन शुरु हुआ । सच्चे ज्ञान की खोज में, आपने स्थान -स्थान पर भ्रमण किया । जहां भी किसी विद्वान साधु या श्रावक का नाम सुनते, उसके पास जाकर विनय पूर्वक ज्ञानाभ्यास करते थे ।

स ---- सत्य के उपासक पूज्य श्री आत्माराम जी म० का कहना था, " मैं सत्य का पुजारी हूं । सत्य से मुझे कोई डिगा नहीं सकता । मैं वही कहूंगा जो सत्य है, मैं उसे ही मानूंगा जो सत्य है । सत्य को प्रकट करने में मुझे कोई हिचक नहीं । सत्य का मार्ग निर्भयता का मार्ग है । डरता वह है, जिसमें सत्य कहने का साहस नहीं है । मैं सत्य के पक्ष में हूं, अतः निर्भय हूं ।"

आपके मन में यह विचार बार-बार उठता था कि आत्म कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए, संसार छोड़ कर, मैं जिस जैन सम्प्रदाय को सच्चा मान कर दीक्षित हुआ हूं, वह वस्तुतः भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्ररुपित नहीं है । इस सम्प्रदाय का इतिहास तो केवल तीन सौ वर्ष पुराना है । इसे चलाने वाले तो लौंकाशाह नामक श्रीमाली गृहस्थ थे । उनकी शिष्य परम्परा में "लव जी " यति हुए । हमारे आद्य पुरुष 'लव जी' हैं । वे सूरत निवासी वणिक् थे । उन्होंने लौंकागच्छ की परम्परा के बजरंग यति के पास दीक्षा ली थी । कुछ दिन बाद किसी बात पर झगड़ा हो जाने से वे अपने गुरु जी से अलग विचरने लगे । मुंह पर मुंहपत्ति बांध ली । उनके इस नए वेष के कारण जब कहीं भी उन्हें रहने का स्थान न दिया गया तो वे एक टूटे हुए मकान में रहने लगे ।



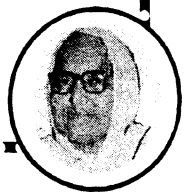
गुजरात - सौराष्ट्र में टूटे मकान को ढूंढ कहते हैं । ऐसे मकान में रहने के कारण लोग उन्हें ढूंढिया कहने लगे । उसी लव जी की परम्परा में दीक्षित होने के कारण लोग हमें ढूंढिया कहते हैं । और हमारे सम्प्रदाय को ढूढंक पन्थ ।

बस इतना सा इतिहास है, इस ढूंढक मत की उत्पति का । यह तो सामान्य-छद्मस्थ मनुष्य द्वारा चलाया हुआ सम्प्रदाय है । मुझे सर्वज्ञ भाषित प्राचीन धर्म की खोज करनी चाहिए । उसी धर्म के पालन से मेरा कल्याण होगा ।

कई वर्ष तक इसी असमंजस में रहे । अन्त में कदाग्रह और रुढ़ परम्परा से ऊपर उठे हुए, आपकी मानसिक उथल -पुथल को अच्छी तरह समझने वाले, मुनि रत्नचन्द जी से आगरा में आप की भेंट हुई और सत्य मार्ग की जानकारी, उनसे प्राप्त करके आप स्वयं को धन्य मानने लगे ।

मा ---- मालेर कोटला में ही स्थानकवासी दीक्षा ग्रहण की और आगरा में रत्नचन्द महाराज से भेंट करने के बाद आपके विचारों में जब परिवर्तन आया, तब १९२१ में सर्वप्रथम मालेरकोटला के चातुर्मास में ही अपने विचारों का प्रचार किया । फलतः दो श्रावकों, कंवरसेन और मंगत राम को, अपने विचारों का बनाया ।

प ---- पट्टी में जब एक बार आप का पदार्पण हुआ । तब वहाँ एक श्रावक घसीटामल जी भी रहते थे । शिक्षित तथा मान्य थे । उनके तीन पुत्र थे । नाम थे - अमीचन्द - मूलचन्द - देवीचन्द । तब स्थानकवासियों का ही बोलबाला था । घसीटामल जी आप श्री जी के भक्त तो थे, पर आपके सम्प्रदाय परिवर्तन के कारण उन्हें कुछ शंका हो रही थी । एक दिन बोलेः-



" महाराज ! मानव जब तक छद्मस्थ है, उसका कहा गलत भी हो सकता है । फिर सम्भव है आपका कहा गलत भी हो और स्थानकवासियों का ठीक हो । कहीं आपके पीछे-पीछे हम भी गलत मार्ग पर न चले जाएं ।"

" मैं जो कुछ कहता हूं यदि उसकी सत्यता जाननी हो, तो अपने बड़े लड़के को व्याकरण - न्याय आदि विषयों को पढ़ाइए । वह कुशाग्र - बुद्धि है । फिर वह जो कहेगा, जो बताएगा, उसे ही ठीक मानना ।"

सेठ जी के गले बात उतर गई । उन्होंने वैसा ही किया । अन्त में जब लड़के ने गुरुदेव के कथन को हुबहू ठीक बताया तो वास्तविकता उनकी समझ में आ गई ।

फिर कभी जब गुरुदेव वहां पधारे तब वे बोले :- महाराज, मैं आपका बड़ा कृतज्ञ हूं । वास्तव में आपने ही प्रकाश को दिखाया है । हम तो अभी तक अंधेरे ही में थे ।

न---नई क्रान्ति करते हुए अहमदाबाद में पू० बुटेराय जी महाराज के पास संवेगी दीक्षा ली । पन्द्रह साधु साथ थे । जो आपके ही शिष्य -प्रशिष्य बने ।

दि--- दिवाकर की प्रकाश शीलता के समान इस दिव्य विभूति की ज्ञान साधना किशोर वय से ही उत्तरोत्तर तेजस्वी होती गई और प्रतिभा भी उत्तरोत्तर विकसित होती गई ।

व---वक्र बुद्धि वालों के साथ आप उसी हिसाब से उसे उत्तर देते कि सामने वाला स्वयमेव निरूत्तर हो जाता । एक बार एक व्यक्ति गुरुदेव के पास आया । नमस्कार किया और बैठ गया । सुख शाता पूछ कर प्रश्न किया :- "साहिब ! आपने सम्यकत्व शल्योद्धार में मन्दिर बनवाने वाले श्रावक को स्वर्ग - प्राप्ति लिखी



है ? ''

गुरुदेव– '' भाई ! भगवान का मन्दिर बनवाना सम्यकत्व की निर्मलता का कारण है और सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में ही जाता है । पांचवें श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी जी का वचन है :- ''सम्मदिट्ठी जीवो विमाणवज्जे न बंधए आउं ।'' इसलिए ऐसे पवित्र काम के करने वाले जीव का स्वर्ग में जाना शास्त्र - सिद्ध है ।''

प्रश्नकार ने हंस कर पूछा :-

'' महाराज ! मन्दिर के लिए गधा ईंटें लाता है । उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है । तो फिर वह भी किसी न किसी देव -लोक में जाता ही होगा ?''

यह प्रश्न यद्यपि भलमनसाई का न था तथापि आप श्री जी ने बड़ी शान्ति रखी और बोले :-

'' भाई ! तुम मन्दिर को नहीं मानते और मन्दिर बनवाने में पुण्य भी नहीं मानते किन्तु साधु को दान देने में तो पुण्य मानते हो नं ! ''

प्रश्नकार –'' निःसन्देह ! साधु को दान देने में स्वर्ग क्या मोक्ष भी मिल जाता है ।''

गुरुदेव –''तो ठहरो ! शान्तिपूर्वक सुनो और ध्यान दो । एक साधु ने कुछ दिनों तक उपवास किए । पारणे का दिन आया । तुमने उन्हें घर बुला कर दूध व्होराया । तुमको बड़ी खुशी हुई । तुमने बड़ा पुण्य बांधा । तुम्हें ऊंचा स्वर्ग मिलेगा । परन्तु दूध देने वाली भैंस को भी तो स्वर्ग मिलना चाहिए ।''

सुनकर वह खामोश हो गया और मनोमन लज्जित भी । इस



तरह आप, जैसे के साथ तैसा, व्यवहार भी करते थे ।

स ---सत्य को अनावृत कर देने वाले आप सत्यनिष्ठ - सुधारक तथा निर्भीक भी थे । आपकी सत्यनिष्ठा का साक्षात्कार तब होता है, जब आपको विरोधियों का सामना करना पड़ता है । मुनि रत्नचन्द जी से अपनी कई शंकाओं का समाधान पाकर, उनसे सद्धर्म प्रचार की प्रतिज्ञा करके जब आप अपने गुरु जीवनराम जी के आग्रह से शीघ्र वापिस आकर दिल्ली मिलते हैं, तथा इस शुभ कार्य में उनका आशीर्वाद चाहते हैं, तब गुरु कहते हैं :-

" ऐ आत्माराम ! इस समय पंजाब में तुम्हारा एक भी साथी नहीं है । चाहे मूर्तिपूजा जैन सूत्रों के अनुकूल ही हो, पर इस समय इसका प्रचार समयोपयोगी नहीं है ! तुम साधु हो । तुम संयम से भ्रष्ट हो जाओगे ।"

उस समय आपने विनीत भाव से उत्तर दिया :-

" आप मेरे गुरु हैं । आपका आशीर्वाद मेरे साथ रहा तो मैं इन सब कठिनाईयों पर विजय पा लूंगा । सत्य मार्ग में सदा विघ्न आया ही करते हैं ।" यह था आपका सत्य प्रेम !

मूर्तिपूजा के प्रचार में आपकी पहली मुठभेड़ सुनाम नामक गांव में कनीराम साधु से हुई । उसने शास्त्रार्थ में कहा :-

"तुम गुरु और बाप दादा के बताए अर्थ को अशुद्ध बताते हो ।"आपने वीर गर्जना से उत्तर दिया :-

" मैं गुरु का बंधा हुआ नहीं हूं । मुझे तो महावीर स्वामी के शासन के शास्त्रों का मानना उचित लगता है । यदि किसी के पिता या पितामह कूप में गिरे हों तो क्या उसके पुत्र को भी गिरना चाहिए ।



'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं का पुरुषा पिबन्ति ।'

मैं सत्य का त्याग करने को तैयार नहीं हूं ।''

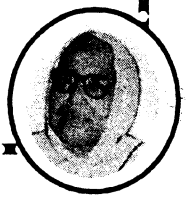
इस तरह आपका सत्य प्रेम ही आपकी सफलता का कारण बना । कष्टों, संघर्षों और विवादों के तूफानों में भी जो अपनी साधुता सज्जनता, सत्यप्रियता और स्थितप्रज्ञता की ज्योति से सदा दीप्त रहे । कभी बुझे नहीं, झुके नहीं, आत्म गौरव, सत्यनिष्ठा और आत्म विकास की अखण्ड ज्योति से जो सदा ज्योतिर्मय रहे, प्रेरणा का पीयूष पिलाते रहे ऐसे गुरु विजयानन्द सूरीश्वर जी महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी समापन दिवस पर -----

आत्म भावेन नमन !

श्रद्धासिक्त हृदय से नमन !!

आपको मेरा अनन्त - अनन्त वन्दन !!!

हंसता, खेलता मासूम और निश्चिंत बचपन,
सपने देखता-झूमता-गाता यौवन,
घर-परिवार की जिम्मेदारियों से
भरपूर व्यस्त गृहस्थी और
फिर जिन्दगी से विदा लेता हुआ
धीमा-शान्त वृद्धत्व !
कितने सारे पड़ाव हैं हमारे जीवनके ।



आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सूरि

"राजन् ! बुलाओ, बुलाओ ! आपकी सभा में पांडित्य का अभिमान करने वाले जो भी गर्विष्ठ पुरुष आज तक आपके वेतन से तागडधिन्ना करते हों, उन सब को मेरे समक्ष, वाद करने को बुलाओ ।"

विक्रमादित्य के समय में एक दिन दक्षिण देश में कर्णाटक की राज्यसभा में प्रवेश करते एक महान विद्वान पुरुष ने गर्जना की । उसकी गर्जना तथा उसके विचित्र वेश से सारी राज्यसभा, राजा सहित आश्चर्य में डूब गई ।"

" आप कोई महा पंडित लग रहे हो । मेरी सभा में भी समर्थ पंडित हैं । वे आपके साथ जरुर वाद करेंगें । परन्तु सर्वप्रथम आप यह तो कहो आप का शुभ नाम क्या ? प्रथम बार ही आप इस सभा में आये हो अथवा ऐसी राजसभाओं की हाजरी आपने इससे पूर्व ली है ?" राजा ने जानकारी लेनी चाही ।

" यह नया पंडित कौन है ? "

यह जानने के लिए आतुर हृदय से, राज्य सभा एकाग्रचित्त से सुनने लगी ।

" आश्चर्य ! अभी तक इस विद्वान का नाम भी आप की सभा नहीं जानती । राजन् ! तो सुनो ----

अवन्ती नगरी में मालवेश्वर (विक्रमादित्य) के मानीते पुरोहित (राजगुरु) देवर्षि और देवसीका का पुत्र चौदह विद्या का ज्ञाता, मैं सिद्धसेन पण्डित हूं । देशोदेश के पण्डितों को जीतता हुआ,आज आपके दरबार में, बैठे बैठे हराम का वेतन खाने वाले,विद्वानों का वेश पहनने वाले, नाम मात्र के शास्त्रीओं की, खबर लेने,



आया हूं ।"

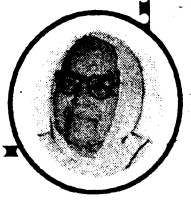
" पंडित जी ! राजा विक्रम की तरह आपका नाम भी प्रख्यात है । परन्तु आपके साक्षात् दर्शन का प्रसंग तो आज ही आया है । जैसा आपका नाम वैसा पांडित्य देखने का, अवसर मिलने से हमें बहुत खुशी है । परंतु महाशय ! आपको पेट पर पट्टा बांधने की,अपने साथ यह सीढ़ी, कोदाली और घास की पूली आदि रखने की क्या जरुरत है ? इसका क्या रहस्य है ? "

राजा ने उसके साथ की वस्तुओं को देख कर पूछा ।

" राजन् ! मैं सर्व (चौदह) विद्या का ज्ञाता हूं । कदाचित मेरा पेट यदि फट जाए तो विद्याएं बाहर न निकल पड़ें, अतः पेट पर पट्टा बांधे रखता हूं । सीढ़ी रखने का तात्पर्य कि कोई पंडित मेरे साथ वाद विवाद के भय से हार कर ऊंचा चढ जाए तो उसे इस सीढ़ी पर चढ कर नीचे खींच लूं और वाद में हराऊं । यदि जल में सुयोधन की तरह स्थंभिनी विद्या से जल स्तंभित करके घुस जाए तो उसे सीढ़ी द्वारा बाहर खींच कर,वाद में हराऊं । यदि कोई पृथ्वी मे घुस जाए तो इस कोदाली से पृथ्वी खोद कर उसे बाहर खींचना और वाद-विवाद में हार कर स्तब्ध हो जाए तो इस घास की पूली में से एक तिनका उसे दांतों में दिला कर,मुक्त कर देना ।" सिद्धसेन ने स्पष्टीकरण किया ।

" आपकी युक्ति तो ठीक है । आपके साथ वादकर्ता को हारने पर आपने उपाय ठीक बताया परन्तु महाशय ! दैवयोग से आप की ही हार हो जाए तो उसमें आपकी क्या शर्त ? " राजा ने पूछा ।

" राजन् ! इसके लिए भी मेरी प्रतिज्ञा है । जिससे मैं हार जाऊं, उसका शिष्य बन जाऊंगा,दास बन जाऊंगा ।" सिद्धसेन ने समाधान किया ।



कर्नाटक के पंडित तो सिद्धसेन का नाम सुनते ही अधोमुखी बन गए । सिद्धसेन के साथ वाद करने को कोई तैयार न हुआ । यदि एकाध अपनी विद्वत्ता पर आधार रख कर उसके साथ मैदान में उतरा भी, तो वह हार गया । उन सबको दांतों में तृण दिला कर सभा समक्ष सिद्धसेन ने अपनी उदारता बताते हुए दासत्व से मुक्त किया ।

इसी तरह देश-देश में अपनी विद्वत्ता से सब को हराते हुए एक दिन सिद्धसेन कौशाम्बी नगरी में आया । वहां की राजसभा में भी पंडितों को हरा कर तृण मुंह में दिलवाया । उन हारे हुओं को देख कर गर्जकर सिद्धसेन बोला :- " है अभी कोई बाकी, अपनी विद्वत्ता का अभिनय करने वाला ? है तो सामने आए, अपना पांडित्य बताए ।"

सिद्धसेन की ऐसी गर्विष्ठ वाणी सुन कर राजा व्यथित हो उठा । सकल सभा स्तब्ध हो गई । सिद्धसेन बोल उठा :-

" अफसोस, मुझे वाद करके जीते ऐसा दुनियां में कोई पुरुष दिखाई नहीं देता । सभी पंडित हार कर मेरे शिष्य ही बनते हैं पर मुझे शिष्य बनाने वाला कोई जन्मा नहीं । राजाओं में यथा महापराक्रमी विक्रमादित्य जयवन्ता है, तथैव भारत में सकल पंडितोंका मुकुटमणि अप्रतिमल्लवादी, वर्तमान में पंडित सिद्धसेन है ।"

अप्रतिमल्लवादी शब्द सुनते ही कौशाम्बी के पंडित ने ऊंची गर्दन की । गर्जना कर रहे सिद्धसेन तरफ तीरछी नजर से कटाक्ष किया । सिद्धसेन बोला :-

" क्यों महाशय ! अभी भी कोई अभिलाषा हो तो सामने आओ । मेरे जाने बाद तुम्हारे मन की मन में रह जाएगी ।"

" ठीक कहा, पण्डितजी ! आपका मनोरथ पूर्ण करने में एक



व्यक्ति ऐसा हयात है । जब तक उसे न जीतो तब तक आपका गर्व अनुचित है । आपको वाद करने में हंफाने वाला भारत में एक ही अप्रतिमल्लवादी वीर पुरुष है । " अभिमान से मदोन्मत्त इस समर्थ को एक पंडित ने छंछेडा ।

" अहो, जगत में अप्रतिमल्लवादी तो महा समर्थ एक सिद्धसेन स्वयं ही पण्डित है । बोलो-बोलो , सिद्धसेन को हराने का दावा करने वाला और अपने को वादी कहलाने वाला, यह दूसरा कौन है ?" सिद्धसेन गर्जा ।

" लाटदेश में विचरने वाले और खुद सरस्वती आपकी गर्वांधता का खण्डन करने के लिए मानो पुरुष रुप में इस दुनियां में आई हो, ऐसे जैन विद्याधर गच्छ में उत्पन्न, वृद्धवादि सूरि जी महाराज !"

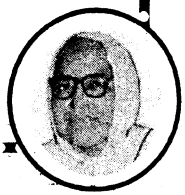
" अहो , क्या एक म्यान में दो तलवार ? आकाश में क्या दो सूर्य ? असम्भव । "

" यह सब तो आप वाद करोगे तभी समझ आएगी । आप के अभिमान को चूरेचूरा करने में एक वही समर्थ पुरुष है । आपको शिष्य बनने की तैयारी हो तो -----"

" चुप रहो ! भारत में आज सर्व पंण्डितों का गर्व उतारने में मैं एक ही जन्मा हूं । मैं वृद्धवादी को जरुर हराऊंगा उसे अपना शिष्य बनाऊंगा । यह प्रतिज्ञा है मेरी । "

" पण्डित जी ! विचार कर प्रतिज्ञा करो । 'बहु रत्ना वसुन्धरा ।' आपके अभिमान का अन्त आने वाला है ।"

" देखा ! देखा, तुम्हारा वृद्धवादी । मिथ्या प्रशंसा से क्या लाभ ? कौन हारता है वह तो समय बताएगा । बोलो तो सही, वह है कहां ?"



" लाट देश के पाटनगर भृगुकच्छ में आजकल वे विराजते हैं । आप त्वरा से जाओगे तो जरुर भेंट होगी ।" कौशाम्बी के पण्डित ने टकोर की ।

" ठीक है, अभी ही जाता हूं । उसे जीत कर अपना शिष्य बनाता हूं । अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता हूं ।"

ऐसा कहते हुए कौशाम्बी की सभा में से अपने परिवार सहित पण्डित सिद्धसेन, लाट देश तरफ रवाना हो गया ।

अब वृद्धवादि सूरि जी म० कौन थे ? उसकी जानकारी के लिए लिखते हैं :-

चौदहपूर्वी आचार्य स्थूलिभद्र जी के शिष्य महागिरि की, विद्याधर वंश परम्परा में आचार्य स्कन्धिल सूरि जी हुए । वे विचरण करते एक बार गौड देश के कौशला गांव में आए । वहां प्रवचनों से वैराग्य पा कर मुकुंद नामक ब्राह्मण ने उनका शिष्यत्व स्वीकारा । विहार करते भृगुकच्छ (भरुच) पधारे ।

मुकुन्द ऋषि वृद्ध थे । अभ्यास में बहुत मंद थे । अतः रात्रि को, जब सर्व शिष्य वर्ग, शान्ति से निद्रा का आस्वादन करता, उस समय मुकुंद ऋषि ऊंचे स्वर से पाठ याद करते । जिससे शिष्यों की निद्रा में विघ्न पड़ता । एक दिन शिष्यों ने गुरु के पास शिकायत की, तो गुरु ने उन्हें समझा कर विदा किया । फिर एकान्त में वे मुकुन्द ऋषि को बुला कर, उसे रात को जोर से ना पढ़ने के लिए प्यार से कहा । तब मुकुंद ऋषि ने अपने अपराध की क्षमा मांगी और दिन में पाठ याद करने लगे । ज्ञान प्रप्ति की तीव्र जिज्ञासा थी । अतः मना करने पर भी उच्चस्वर से ही पढ़ते तथापि याद न रहता । बहुत परिश्रम करते । उनके ऐसे व्यवसाय से सब साधु परेशान हो गए । एक दिन ऊब कर एक छोटे साधु ने उपहासपूर्वक कहा :-



" ओ मुकुन्द ऋषि महाराज ! अब वृद्ध होकर क्या गला फाड़ते रहते हो । पढ़-पढ़ कर क्या मूसल पर फूल उगाओगे ? क्यों व्यर्थ में सबको परेशान करते हो ?

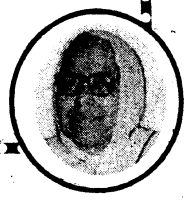
यह उपहास मुकुंद के गले गहरा उतर गया । उसने जरा भी क्रोध न किया । उसका एक-एक शब्द अच्छी तरह याद रखा । इन शब्दों का असर तुरन्त हुआ । उस साधु को मुकुंद ने एक शब्द भी उत्तर में नहीं कहा, परन्तु मन में अपने प्रति खेद बहुत हुआः- " हा ! ज्ञानावरणीय कर्म से दूषित मेरी दुर्मति को धिक्कार है । पूर्व में मैं ने ज्ञान की आशातना की होगी । ज्ञान और ज्ञानी को सताया होगा , उनकी निंदा-गर्हा की होगी । जिसका फल अब भोग रहा हूं । अब इस भव में भी हार गया तो भवान्तर में क्या होगा ? "

विचार करते करते वह गहरे चिन्तन में चला गया ।

" अब तो मैं उग्र तप करके भारती (सरस्वती) देवी का आराधन करके, उसे प्रसन्न करुंगा । उपहासपूर्वक बोले हुए वचनों को सत्य करुंगा ।"

इस प्रकार निश्चय करके मुकुन्द ऋषि तुरन्त उठे और वहां के प्रसिद्ध जिनालय में जाकर चारों आहार का त्याग करके भारती के ध्यान में निश्चल बैठ गए । उनकी ऐसी प्रवृत्ति देख कर सभी साधु हैरान हो गए । गुरु महाराज भी यह समाचार जान कर विचार में पड़ गए । परन्तु ज्ञान से भावि लाभ जान कर मौन रहे । उपहास करने वाले साधु को भी खूब पश्चाताप हुआ । गुरु का भी कोप भाजन बना । धीरे धीरे यह बात सारे संघ में फैल गई ।

दिन पर दिन व्यतीत होने लगे । मुकुन्द ऋषि को मुत्यु की भी परवाह न थी । वह तो अपने साध्यबिन्दु को सिद्ध करने के लिए अभिग्रह लेकर ही बैठे थे । " क्या होगा-क्या बनेगा ? "इस



प्रकार भविष्य की चिन्ता से सब उद्विग्न थे । सारा नगर दर्शनों के लिए उमड़ा रहता । राजा को पता चला तो वह भी चिन्तातुर हो गया कि कहीं कोई उत्पात न हो जाए । वह भी दर्शन को आया । सूरि जी ने उसे आश्वस्त किया कि विधि की लीला अपरम्पार है । आप चिन्ता न करें । ऐसा करते-करते इक्कीसमा (२१वां) दिन आ गया । अडोल, अकम्प, एक आसन पर, जिन प्रतिमा के चरणों में अचल द्रष्टि लगाए, २१ दिन पूरे हो गए । सभी जन, परिणाम जानने को आतुर रहते । अन्त में २१ वें दिन की रात को मुकुन्द ऋषि का ज्ञानावरणीय कर्म लगभग नाश हो गया और उसके पराक्रम व सत्त्व से प्रसन्न होकर सरस्वती देवी साक्षात् उसके सामने प्रकट हुई और बोली :-

" हे वत्स ! उठ ! तेरे सत्व से मैं प्रसन्न हूं । तेरा मनोरथ पूर्ण होगा ! इस जमाने के विद्वानों में तूं समर्थ विद्वान बनेगा । वाद में काई तेरा पराभव न कर सकेगा । तूं एक ही अप्रतिमल्लवादी बनेगा ।"

इतना कहते ही देवी अदृश्य हो गई । मुकुंद के हर्ष का पार न था । भारती देवी का " वर " प्राप्त कर कवीन्द्र बन कर प्रभात समय में गुरु के पास आ कर उन्हें वन्दना की । गुरु ने भी आशीर्वाद दिया । एक पहर दिवस चढ़े बाद श्रावकों के घर से पानी व्होरने गए तो वापिसी में मूसल देख कर अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई । तुरन्त ही वहीं-बाजार के मध्य में मूसल मंगा कर सकल संघ समक्ष, नगरजनों की कुतूहल भरी नजरों समक्ष, मुकुन्द ऋषि ने उच्च स्वर से घोषणा करते बताया :-

"जिसने मेरा उपहास किया था कि- "पढ़ कर क्या मूसल को फूल लगाओगे ?" तो वे सब आएं और देखें । मैं इस मूसल को जमीन में गाढ़ कर इसे पानी से सींचूंगा और मूसल पुष्पित



पल्लवित बन जाएगा ।''

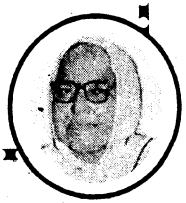
ऐसा कहने की देर कि वहां भीड़ एकदम खचाखच भर गई । तमाशे को निमंत्रण की जरुरत नहीं । मुकुंद ऋषि ने भारती देवी का स्मरण किया तुरन्त मूसल हरा-भरा हो गया- पत्ते आए फिर फूल भी प्रगट हुए । यह सब देख संघ सहित लोग दांतों तले उंगली दबाने लगे ।

इस तरह मुकुंद ऋषि ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की । गुरु भी उसकी विद्वत्ता व पांडित्य से खुश थे । उसके बाद सरस्वती देवी की कृपा से सर्व पंडितों को वाद विवाद में हराते हुए सारे जगत में अप्रतिमल्लवादी के रुप में विख्यात हो गए । तथापि उनके मन में लेश मात्र भी अभिमान न था और न था हारे हुओं के प्रति तिरस्कार या कठोर तीक्ष्ण वचन ! गुणों के आभूषण रुप इस मुनि को योग्य जान कर स्कंधिलाचार्य गुरु ने आचार्य पदवी प्रदान की । तथा वृद्धवादी सूरि के रुप में अपनी पाट पर स्थापित किया । क्रमशः अन्त समय जान कर गच्छ का सर्व भार वृद्धवादीसूरि को सौंप कर स्कन्धिलाचार्य समाधिपूर्वक कालधर्म पाकर स्वर्ग गए । वृद्धवादी सूरि भी जैन शासन रुप गच्छ की व्यवस्था करते हुए पृथ्वी पर विचरने लगे । देश प्रदेश में उनकी विद्वत्ता से हारे हुए विद्वान कहते- ''यह तो साक्षात पुरुष रुप में सरस्वती का अवतार है ।''

x x x x x x x x x x x x x x x

एक दिन... प्रभात वेला में...

एक पंडित अपने शिष्य परिवार सहित त्वरापूर्वक मार्ग तय करते हुए भृगुकच्छ नगर में प्रवेश कर के 'वृद्धवादिसूरि'' की खोज करते करते गली- गली पूछ रहा है । अनुक्रम से वह पंडित उपाश्रय के



आगे रुका और किसी श्रावक को पूछा :-

"यहां कोई वृद्धवादी सूरि हैं ? मैं मिलना चाहता हूं ।"

"महाशय ! वे तो नवकल्प विहारी हैं । आज उनका कल्प पूरा होने से थोडी देर पूर्व ही विहार कर गए हैं यहां से ।" इकट्ठे हुए श्रावकों में से एक ने उत्तर दिया ।

"आ-हा-हा ! इतनी जल्दी क्या मेरे पहले निकल गए ?" वह बोला और हंसा ।

उसके शब्द सुनकर सभी लोग विस्मित हो गए । एक जन ने पूछा :- आप कौन हो ? आचार्य से आपको क्या काम ?"

"मैं कौन हूं ? मैं विद्वद् शिरोमणी सिद्धसेन पंडित हूं । अप्रतिमल्लवादी के रुप में इस आचार्य का बिरुद जान कर इसे जीतने के लिए आया हूं ।"

सिद्धसेन पंडित के गर्व भरे शब्द सुन कर सभी लोग उपहास करने लगे । एक जन बोला :-

"अरे भाई ! दुनियां में अन्य पंडितों की स्पर्धा छोड़ कर 'इसे' जीतने आए हो ? ये तो साक्षात सरस्वती के अवतार हैं ।"

"कोइ चिन्ता वाली बात नहीं । मैं भी विक्रमादित्य राजा का मानीता हूं । देश-देश के पंडितों को हरा कर अपना शिष्य बनाना मेरा काम है । जल्दी बताओ वह किस तरफ गया है ? मैं झट उससे मिलूं और उसे वाद में हरा कर, शिष्य बना कर, अपना मनोरथ सफल करुं ।" पंडित ने कहा ।

सब विचार में पड़ गए । यह मिथ्याभिमानी लगता है । "मानता नहीं तो जाने दो- टकराने दो उससे । अपने आप इस की सान ठिकाने आ जाएगी ।" इस तरह सब विचार करने लगे । एक जन ने रास्ता बता दिया । सिद्धसेन अपने परिवार को वहीं छोड़ कर,



एकाकी खुश होता-होता त्वरा से उस मार्ग पर दौड़ पड़ा । आधा-पौना घण्टा जोश भर दौड़ने पर दूर से उसे साधू दिखाइ पडे । अचानक एक साधु की दृष्टि भी पीछे, उसकी तरफ गई । उसने वृद्धवादि सूरि को बताया । सूरि जी ने समझा इतना दौड दौड कर आ रहा है शायद कुछ उपदेश की इच्छा होगी । यह सोचकर वे एक वृक्ष नीचे बैठ गए । सिद्धसेन का श्वास फूल रहा था । बोला नहीं जा रहा था । वह भी उनके सामने बैठ गया था । सूरि जी उपदेश देने लगे । २-५ मिन्ट बाद श्वास ठीक होने से सिद्धसेन फूंकार सी करते बोला :- मैं कोई आपका उपदेश सुनने नहीं आया हूं । मेरे आने का समाचार सुनकर आप भृगुकच्छ से भाग गए, तथापि मैंने आपको पकड़ लिया । अब या तो आप अपना "वादि" का बिरुद (DEGREE) छोड़ दो अथवा वाद में मुझे जीतो । जो हारे वह दूसरे का शिष्य बनेगा । यह प्रतिज्ञा मान्य करनी पड़ेगी ।"

सिद्धसेन की वाणी सुनकर सूरि जी विचार में पड़ गए । "ओ-हो ! विद्या का इतना गर्व ? आत्मज्ञान बिना यह सब विद्या अज्ञान ही है । इस विद्वान को युक्ति बल से जीत कर धर्ममार्ग में स्थिर करुं । यतः आत्मा, कर्म मुक्त बन सके । उसके ललाट को देख कर सूरि जी ने श्रुतज्ञान से जान लिया कि इस व्यक्ति से जैन शासन को खूब लाभ होने वाला है । यह महा प्रभावक बनेगा । अतः इसे अपना बना कर इसके मन की बात जान लेना चाहिए । ऐसा विचार कर बोले :-

"आपकी इच्छा मैं जरुर पूर्ण करुं पर वाद-विवाद में अपना मध्यस्थ कौन होगा ? जय-पराजय का निर्णय कौन करेगा ? मुझे वाद करने में कोई हरकत नहीं पर आप कोई मध्यस्थ को खोज कर लाओ ।"



सिद्धसेन को आचार्य के वचन पर विश्वास जमा । पर ऐसे जंगल में मध्यस्थ (साक्षी) लाना कहां से ? फिर विचार आया हमारे वाद में जिसे भी मैं मध्यस्थ बनाउंगा वह मेरे लिए तो पशु समान ही होगा ! तो फिर यह ग्वाल लोग ही क्यों न चुन लूं ? अतः इन्हें ही मध्यस्थ बनाएं । सूरि जी को तो कुछ आपत्ति थी नहीं । वाद के लिए, सूरि जी बोले :- "आप अपना पक्ष स्थापन करो ।"

सिद्धसेन पंडित ने संस्कृत भाषा में अनेक ग्रंथों के प्रमाण लेकर अपने पक्ष का समर्थन किया । " सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा सिद्ध किया ।" वृद्धवादि सूरि जी ने गोवालों से पूछा :- " आप इसकी बात समझे हो ?"

ग्वाल बोले :- "इसकी फारसी (पारसी) भाषा हम क्या समझें?"

सूरिजी :- इस विद्वान का कथन मैं समझा हूं, वह कहता है कि जिन नहीं है सर्वज्ञ नहीं है । आप बताओ अब कि क्या यह कथन सत्य है ?"

गोपाल :- जिन मंदिर में जिन मूर्ति है, जिनेश्वर है, सर्वज्ञ बिराजमान है, अतः इसका वचन मिथ्या है ।

ग्वालियों ने अपना मत कहा । इतना विनोद करने बाद सूरिजी ने युक्ति से सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि की । तब सिद्धसेन हर्षित होकर बोला :- अब आप मुझे शिष्य रुप में स्वीकार करो, क्यों कि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे जीते मैं उसका शिष्य बन जाऊंगा ।

गुरु जी ने खड़े होकर ग्वालियों तरफ नजर कर के ओघा कमर में बांधा, हाथों से ताली से ताली बजाते- बजाते गरबा- रास का नृत्य करने लगे । गोवालों को रस पड़ा । गुरु जी समय के ज्ञाता थे । वे रास लेते लेते ग्वालों की भाषा में ही गीत गाने



लगे :- नवि मारिये रे, नवि चोरिये रे, परदारा गमन निवारिए...

इत्यादि पद बनाकर गाए । ग्वालों को बोध दिया । उपदेश सुन कर वे खुश खुश हो गए । बोले :- "यह बूढा साधु जीता । वाह, सूरि महाराज, कैसा मीठा-मीठा बोलता है । गुरु जी आप जीते । यह पंडित तो व्यर्थ ही बक-बक करता है । कुछ समझ भी नहीं आता ।"

सिद्धसेन का गर्व गल गया । गुरु जी बोले :-

" सिद्धसेन, सुनो, यह कोई अपना वाद विवाद नहीं । क्योंकि मध्यस्थ व्यक्ति शास्त्र ज्ञाता होना चाहिए । जरा धैर्य रखो । अपन भृगुकच्छ राज्य की राज्यसभा में वाद करके जय-पराजय का पूरा निर्णय करेंगें, तभी आपकी शर्त पूरी होगी ।"

राज्यसभा में भी वाद-विवाद में सिद्धसेन हार गया । प्रतिज्ञानुसार उसने वृद्धवादिसूरि का शिष्यत्व स्वीकारा । दीक्षा ली । नाम कुमुदचन्द्र रखा ।

भाट देश का राजा धनंजय भी दीक्षा समय आया । खूब धामधूम से महोत्सवपूर्वक दीक्षा हुई । धनंजय वृद्धवादि सूरि जी का भक्त था । जंगल में ग्वालियों ने जहां वाद-विवाद का निर्णय किया था, वहां एक विशाल जिन मंदिर बनवाकर ऋषभदेव प्रभु की प्रतिमा स्थापन की । प्रतिष्ठा, वादि देवसूरि जी से कराई । 'तालरस' नामक गांव बसाया ।

कुमुदचन्द्र भी महान समर्थ पंण्डित थे । शास्त्रज्ञाता थे । अतः शीघ्र ही जिन सिद्धान्त के पारगामी बन गए, सर्वज्ञपुत्र बन गए । योग्य जान कर गुरु ने आचार्य पदवी दी । तब पूर्व का ही नाम सिद्धसेन रखा । पदवी बाद सिद्धसेन सूरि गुरु आज्ञा से शिष्य परिवार सह अन्यत्र विहार कर गए । और वृद्धवादी सूरि अन्यत्र विचरने लगे ।



सिद्धसेन को दीक्षित देख कर उसके परिवार में से कईयों ने तो उसी का शिष्यत्व स्वीकार लिया था और कई मालवा जा कर उज्जयिनी में विक्रमादित्य को समाचार देने के लिए रवाना हो गए ।

सिद्धसेन सूरि जी सर्वज्ञपुत्र के रुप में भी ख्यात हो गए । गांव-नगर विचरण करते, लोगों को धर्म में स्थिर करते, एकदा उज्जयिनी नगरी में आ पहुंचे । श्री संघ ने ठाठपूर्वक सामैयुं करके प्रवेश कराया । नित्य प्रवचन में जन-मेदिनी बढ़ने लगी । राजा विक्रमादित्य भी प्रभावित थे ।

एक दिन राजा हाथी पर बैठ कर नगर बाहर जा रहे थे । दैव योग से सिद्धसेन सूरि जी सामने से आते दिखाई दिए । राजा ने दूर से ही पहचान कर विचार किया :- एक समय का यह मदोद्धत सिद्धसेन आज साधू बन गया । राग-द्वेष रहित होकर वीतरागी बन कर सर्वज्ञपुत्र कहलाता है, तो लाओ, आज इसके सर्वज्ञपणा की परीक्षा लूं ।

ऐसा विचार कर हाथी की अम्बाडी पर बैठे बैठे सिद्धसेन सूरि जी को वन्दना की । न सिर हिलाया-न झुकाया-न हाथ जोडे-न मुख से वचन कुछ बोला । मात्र मन से वन्दना की ।

जब सूरि जी के पास राजा आया तब सूरि जी ने हाथ ऊंचा करके राजा सुन सके, इस तरह ' धर्मलाभ ' कहा । तब राजा बोला-महाराज ! मैं ने वन्दना तो की नहीं फिर काहे का धर्मलाभ ? क्या धर्मलाभ इतना सस्ता है कि वन्दना बिना भी सहज मिल सके ?

" राजन् ! धर्मलाभ सहज नहीं, सस्ता नहीं । अनादि अनन्त संसार में दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु धर्मलाभ है । धर्म का लाभ प्राप्त कर्ता प्राणी, संसार के भ्रमण का नाश करके अमोघ मुक्ति



सुख पा सकता है । ऐसा प्रगट लाभ देने वाला यह 'धर्मलाभ ' वन्दना करने वाले को ही मिल सकता है ।'' सर्वज्ञपुत्र ने स्पष्टीकरण किया

राजा बोला :- ''तो फिर वन्दना कर्ता को धर्मलाभ देना चाहिए । मैं ने तो आपको वन्दना की नहीं । फिर क्यों धर्मलाभ दिया ? शायद राजा समझ कर दिया हो, ठीक है नं ! ''

'' राजन् ! वन्दन तीन प्रकार से होती है-मन-वचन और काया से । उसमें आपने मन से वन्दन की है-चिंतामणि से भी अधिक, धर्मलाभ देने का साधु का आचार मान कर ही मैं ने धर्मलाभ दिया है । आपने मेरे सर्वज्ञपणा की परीक्षा के लिए ही मन से वन्दन की है ।''

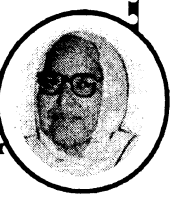
अपने मन का अभिप्राय सूरि जी से सुन कर राजा अति ही प्रसन्न हुआ और संघ समक्ष हाथी से नीचे उतर कर गुरु जी को वन्दना की । सुख शाता पूछी । राजाज्ञा से कोषाध्यक्ष ने तुरन्त करोड़ सौनैया सूरि जी के आगे ला कर रखा । तब सूरि जी बोले :-

' वृथा तृप्तस्य भोजनम ' राजन् ! हम त्यागीओं को इन मोहरों से क्या प्रयोजन ? आप वापिस भण्डार में भेज दो ।''

'' महाराज ! मैं ने तो इन का दान कर दिया है , अब ले नहीं सकता । आपको ही लेनी पड़ेगी । '' राजा बोला ।

'' मालवेश्वर ! पृथ्वी पर कोई ऋण के दुख से दुखी होता हो तो उसे इस संकल्पित द्रव्य से ऋण मुक्त करना उचित है ।''

राजा को सूरि जी के वचन उचित लगे । तदनुसार आचरण करके कईयों को सुखी किया, ऋण मुक्त किया । सूरि जी भी



काफी दिन वहां रुक कर अन्यत्र विहार कर गए ।

विहार करते एक बार चित्रकूट (चित्तौड) पधारे । वहां एक दिन जिन मन्दिर में दर्शन करने गए तो उस प्राचीन मन्दिर में एक महास्तम्भ को देख विस्मित हो विचार में पड़ गए । वह खम्भा मिट्टी, चूना, लकड़ी या पत्थर का नहीं था । सूरि जी ने अपने बुद्धि बल से जाना कि यह तो औषधियों के चूर्ण से बना है । सूरि जी ने औषधियों को सूंघ कर पहचाना और उसके विरोधी औषधियां इकट्ठी करके, उनका रस मुख्य भाग पर लगाया तो खिलते कमल की तरह उसका मुख भाग (फाटक सा) खुल गया । अन्दर अनेक प्रकार की रहस्यमयी पुस्तकें दिखाई दीं । उसमें से एक पुस्तक लेकर एक पृष्ठ की पहली ही पंक्ति पढ़ी । उसमें स्वर्ण सिद्धि और सर्षप विद्या (जलाशय में सरसों डालकर सेना उत्पन्न करने की विद्या) ये दो मन्त्र अच्छी तरह याद कर लिए विधि सहित । फिर ज्यों ही आगे पढने लगे कि आकाश वाणी सुनाई दी, " बस इन दो ही विद्याओं से शासन उद्योत करना, ज्यादा पाने का प्रयास मत करो । " वाणी सुनकर ईधर उधर दृष्टि घुमाई कि कहां से यह आवाज आई ? इतने में तो हाथ में रही पुस्तक गायब थी । स्तंभ का मुख भी बन्द हो गया था । इतने में ही सन्तोष मान कर दोनों विद्या को याद करते करते उपाश्रय चले आए ।

कुछ दिन चित्रकूट ठहर कर वहां से विहार कर सिद्धसेन सूरि जी पूर्व देश के कर्मारपुर नगर में आए । उनकी प्रख्याति वहां पहुंच चुकी थी । वहां देवपाल नामक राजा था । उसने सूरि जी का स्वागत किया । सूरि जी से नित्य धर्मगोष्ठी करने से राजा को बोध हुआ । मित्रवत् मानने लगा । भक्त बन गया ।

एक बार सीमावर्ती राजाओं ने देवपाल को छोटा राजा मान कर, उसका राज्य बांट कर, हजम करने के लिए, विजयवर्मा राजा



को आगेवान बना कर, विशाल सेना से कर्मार नगर को घेर लिया । देवपाल अल्प बल वाला था, पर पराक्रमी था । उसने अपने सेनापति को लश्कर तैयार करने का आदेश दिया :- "जाओ, युद्ध का प्रारम्भ करो । मैं भी शेष सैन्य लेकर रणभूमि में मिलूंगा ।" सेनापति ने शत्रु साथ युद्ध शुरु कर दिया । इधर देवपाल युद्ध की पोशाक पहन कर जाने से पहले गुरु को वंदन करने आया । वन्दन बाद बोला :- "भगवन् ! यह आपका अन्तिम दर्शन है ।"

"क्यों क्या हुआ राजन् ! " गुरु ने शान्ति से पूछा । राजा ने सब बात की । तब गुरु बोले, " राजन् ! कहो तुम्हारी क्या इच्छा है ? " गुरु जी को दोनों विद्या याद आ गई । ऐसे संयोग में उनका उपयोग करके जैनधर्म की महिमा बढ़ाने का उनका मन हुआ ।

" भगवन् ! मैं चाहता हूं कि आपके प्रभाव से मैं विजय माला पहनूं । प्रजा का रक्षण करुं । जैनधर्म की महिमा बढाऊं " राजा ने कहा ।

"ठीक है, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी ।" गुरु ने कहा । फिर राजा के साथ ही उपाश्रय से बाहर आए । स्वर्ण सिद्धि योग से खूब द्रव्य का और सर्षपविद्या से विशाल सैन्य का सर्जन किया । जितने सरसों के दाने तालाब में डाले , उतने घुडसवार सुभट शस्त्रास्त्र सहित तालाब में से बाहर निकले । राजा सहित वे सभी युद्ध मैदान तरफ गए । यह तो दैवी शक्ति थी । अतः देवपाल राजा की विजय हुई । प्रजा ने वाजते गाजते अपने विजयी राजा का नगर प्रवेश कराया । राजा गुरु जी को वंदन करने उपाश्रय तरफ मुड़ा । रास्ते में वही जलाशय आने पर दिव्य शक्ति से उत्पन्न सैन्य,राजा का काम सिद्ध करके उस



में अदृश्य हो गया । सभी नगरजन इस आश्चर्यकारी घटना से दंग रह गए ।

गुरु महाराज की जय, सर्वज्ञपुत्र की जय, सिद्धसेन गुरु की जय, भगवान महावीर स्वामी की जय, जैनधर्म की जय, जयनादों से आकाश गूंज उठा । राजा ने उपाश्रय आ कर गुरु महाराज को वन्दन की । उपाश्रय खचाखच भर गया । शेष असंख्य लोग बाहर खड़े थे । राजा ने गुरु चरणों में लोटते कहा कि राज्य आपका है, आप सम्भालो । गुरु जी ने त्याग धर्म समझाया । तब राजा बोलाः-

" आपने आज मेरे पर, मेरी प्रजा पर, देश पर महान उपकार करके हमें नवजीवन दिया है । हमारे राज्य पर आए अन्धकार के बादल आपने दिवाकर (सूर्य) समान दूर किए हैं । मेरे समस्त राज्य-प्रजा के प्रतिनिधि के रुप में और मेरी राजसभा की तरफ से मैं" "दिवाकर " का विरुद अर्पण करता हूं । आज से आप की ख्याति " सिद्धसेन दिवाकर सूरि " के रुप में होगी ।

तुरन्त ही प्रजा ने राजा के शब्दों को बधाई दी । जयनादों से आकाश गूंज उठा । राजा के आदेश से प्रजा ने भी जैनधर्म स्वीकार किया । जैन बनने वाले को राज्य तरफ से उत्तेजन मिलने लगा । धीरे धीरे कुछ ही दिनों में राजा ने देखा, चारों वर्ण, अठारह जाति जैन धर्म-अनुरागी बन गई थी ।

" यथा राजा तथा प्रजा "

देवपाल राजा और उसकी समस्त प्रजा सिद्धसेन दिवाकर सूरि जी से प्रभावित थे । बंदीवान बने हुए राजा विजयवर्मादिक को भी गुरु समक्ष उपस्थित किया गया । उन्हें जैन बना कर अपने राज्य में जैन धर्म की ध्वजा फरकाने की शर्त पर राजा ने उन्हें दरबारी मान के साथ उनके राज्य तरफ विदा किया था । इस तरह



गुरु का मान खूब बढ़ गया था ।

राजा ने सोचा :- यह तो चिंतामणि रत्न है । हाथ से कहीं छटक न जाए । गुरु जी कहीं विहार न कर जाएं । इन्हें सदा मैं अपने राज्य में ही रखूं । जैनधर्म की महिमा बढ़ाता रहूं ।

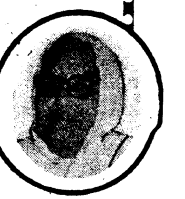
यह विचार उसने अपने दरबारी जन, प्रजा जन तथा संघ के आगेवानों समक्ष रखा । सभी ने स्वीकृति दी । तत्पश्चात् सब लोग गुरु के वचनों को पालने में दिन-रात तत्पर रहने लगे ।

अति सर्वत्र वर्जयेत्

दिवाकर सूरि अधिकाधिक भक्ति से आचार में शिथिल पड़ गए । राजा ने नित्य दरबार में आने के लिए गुरु जी के लिए सुंदर पालखी कराई । हजारों मानव मेदिनी उनकी पालखी उठाने के लिए तत्पर रहती । बिना भूमि पर रखे, लोग दरबार तक ले जाते । इस तरह रोज राजशाही ठाठ से दरबार जाते । खान-पान में, अपनी साधु क्रिया में, आचार्य शिथिल हो गए । राजकृपा के उपासक बन कर ऐश-आराम में पड़ गए ।

आचार्य वृद्धवादिसूरि को सब समाचार मिलते रहते थे । अपने प्रभाविक शिष्य की अपनी हाजरी में आचार भ्रष्टता हो जाए, वह मानव भव हार जाए , यह गुरु को इष्ट न था । उनके मन में भारी खेद हुआ । जानते हुए भी यदि पतित होते शिष्य को गुरु बचाए नहीं, तो गुरु भी दोष का भागीदार बनता है ।

अतःवृद्धवादि सूरि जी म० अपने शिष्य परिवार को उत्तम पुरुषों को सौंप कर गुप्त वेश में कर्मारपुर नगर पहुंचे । दो दिन सब स्थिति सुनी-समझी-देखी । तीसरे दिन भीड़ में घुस कर, अप्रकट रुप में पालखी उठा कर धीरे धीरे चलने लगे । कंधा ऊंचा नीचा



करने लगे । वृद्ध जो थे ।

उनको ऐसा करते देख सिद्धसेन सूरि जी संस्कृत में बोले :- 'महाशय ! भूरि भार भरा क्रान्तः स्कन्धः किं तव बाधति ?' तब गुरु ने भी संस्कृत में उत्तर दिया :-

" न यथा बाधते स्कन्धः यथा बाधति बाधते । "

अर्थात् पालखी के भार से कन्धा इतना पीड़ा नहीं देता ,जितना गलत रुप संस्कृत में बोला 'बाधति ' यह पीड़ा देता है ।

दिवाकर सूरि विचार में पड़े, भूल समझ आई । गुरु को पहचान लिया, तुरन्त पालखी से उतर गुरु के पांव में पड़े क्षमा मांगी । गुरु, ने साधु जीवन का रहस्य समझा कर प्रायश्चित दिया । प्रायश्चित स्वीकार कर, राजा की आज्ञा लेकर, दिवाकर सूरि वहां से गुरु के साथ अन्यत्र विहार कर गए ।

एक दिन अपना अन्त समय जान कर वृद्धवादि गुरु, सिद्धसेन को अपने पद पर स्थापित करके गच्छ का सम्पूर्ण भार सौंप कर स्वयं, अनशन करके स्वर्ग में गए ।

अब दिवाकर सूरि गच्छाधिपति बन कर भूतल पर विचरने लगे । एक बार विहार करते, शिष्य परिवार सह, भरुच नगर में आए । कोई दुष्ट कर्म के क्षयोपशम के उदय के कारण एक दिन उनके मन में विचार आया :-

" पूर्व के आचार्य महासमर्थ और चौदपूर्वी थे, तो भी उन्हों ने बाल को भी सुलभ ऐसी प्राकृत भाषा में क्यों ये सूत्र रचे ? संस्कृत में बनाए होते तो उनकी विद्वत्ता की कितनी प्रशंसा होती विद्वत् जनों में ? अतः अब मैं ये सब सूत्र अलंकारिक मधुर गीर्वाण भाषा में, संस्कृत में बना देता हूं ।" ऐसा विचार कर नवकार के पांच पदों को इस तरह संक्षिप्त किया :--

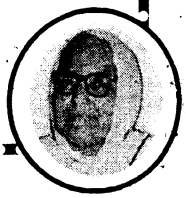


बनाने के बाद विचार किया कि मैं इतना बड़ा महान कार्य प्रारम्भ कर रहा हूं, तो सर्व संघ की सम्मति से करना चाहिए। ऐसा विचार कर संघ इकट्ठा किया। संघ में भी स्कंदिलाचार्य और वृद्धवादी आचार्य के वासक्षेप से शुद्ध बने विद्वान, बुद्धिशाली और गम्भीर व्यक्ति भी थे। सभी के समक्ष दिवाकर सूरि जी ने अपने विचार रखे और फिर अपनी नई कृति पेश की। बुद्धिशाली व्यक्ति विचार में पड़ गए :- " ओहो ! गुरु जी ने ठीक नहीं किया। ऐसा करने से इन्हें महान दोष लगा। तीर्थंकर प्रभु की आशातना की। अतः सत्य हकीकत कह कर, इन्हें प्रायश्चित द्वारा शुद्ध करना चाहिए।"

भरुच का संघ गुरु भक्त था तथापि अन्ध श्रद्धा न थी। श्री संघ ने पारांचिक प्रायश्चित दिया। अर्थात बारह वर्ष तक आंबिल तप सहित जैन वेष छिपा कर, गच्छ बाहर रहना। उसमें यदि किसी महान राजा को प्रतिबोध देकर जैन बनाए, कोई गुप्त तीर्थ-प्रगट करे तो संघ समय की मर्यादा कम कर सकता है।

" संघ पच्चीसवां तीर्थंकर है। " ऐसा मान कर दिवाकर सूरि ने अपने अपराध की क्षमा मांगी और प्रायश्चित स्वीकार करके अवधूत वेष में, शिष्य परिवार संघ को, सौंपकर, एकाकी निकल पड़े। यद्यपि वे चाहते तो अपने अनुरागी देवपाल आदि अनेक राजाओं के राज्य में विचर सकते थे, तथापि संघ की आज्ञा सर्वोपरि मानी।

अवधूत वेष में आंबिल तप करते गांव या जंगल, पर्वत या मन्दिर, शहर या श्मशान सबको सम गिनते, एक एक दिन करते, महीने बीते, वर्ष बीता- क्रमशः सात-सात वर्ष का समय भी व्यतीत हो गया। किसी के सुख में तो किसी के दुख में, दिन सबके



जाते हैं । लोग उनके अस्तित्व को भी भूल गए प्रायः ।

एक दिन दिवाकर सूरि ने विचार किया कि "दुनियां की स्मृति में से अब मैं एकदम साफ हो गया हूं । अभी भी मेरे पांच वर्ष शेष हैं । तो मुझे गुप्त तीर्थ प्रगट करना चाहिए और किसी चक्रवर्ती राजा को जैन बनाना चाहिए । " विचार करते करते विक्रमादित्य राजा का ख्याल आया । श्रुतज्ञान के बल से सर्वज्ञपुत्र तो थे ही । "आर्य सुहस्ति सूरि जी के हाथ से प्रतिष्ठित महाकालेश्वर तीर्थ प्रगट करुं । अन्यमतावलम्बियों ने अवन्ती पार्श्व प्रभु की प्रतिमा भोंयरे में भण्डार कर ऊंपर शिवलिंग की स्थापना कर ली है । राजा भी उन्हीं का भक्त है। एक अदभुत महातीर्थ प्रगट होगा और राजा भी जैन बन जाएगा । " ऐसा विचार कर पार्श्व प्रभु का ध्यान धर कर, धरणेन्द्र का स्मरण किया । प्रभु, आपके प्रभाव से मेरा कार्य सिध्ध हो ! ऐसे कलिकाल में भी अपना प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाओ । शासन के अधिष्ठायक देव, मेरी सहायता करो ।"

x x x x x x x x x x x x x x x

एक दिन .....

महाकालेश्वर के मन्दिर में शिवलिंग के ऊपर ही अपने पैर रख कर निर्भय पणे एक अवधूत योगी सो रहा था । सुबह पुजारी आया, देखा, क्रोध से योगी को आवाज दी, उसके पैर उठाने का प्रयास किया, पर सब निष्फल । घबरा कर शोर मचाया । भीड़ इकट्ठी हो गई । कठोर व तीक्ष्ण शब्दों का प्रयोग किया । पर योगी तो मानो वज्रमय शरीर बना कर, कुम्भ कर्ण की नींद सो रहा था । वह टस से मस भी न हुआ । बात बढ़ते - बढ़ते राजा तक पहुंची । "लातों के भूत बातों से नहीं मानते ' यह सोच कर राजा विक्रमादित्य ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि



चाबुकों की मार से उस योगी की नींद छुड़ाओ ।''

राजा की आज्ञा पा कर सेवकों ने योगी को चाबुक पर चाबुक जोर जोर से मारने शुरु कर दिए । पर योगी को उनकी परवाह कहां ? सारी उज्जयिनी नगरी यह कौतुक देखने उमड़ रही थी ।

अचानक विक्रमार्क राजा के अन्तःपुर में कोलाहल होने लगा । रानियों पर अदृश्य रुप से चाबुकों के प्रहार हो रहे थे । ' बचाओ- बचाओ ' की चीखें मारती, रानियां इधर से उधर दौड रही थीं, कोई मूर्च्छित सी हो गई थी, कोई अधमुई सी हो गई थी । प्रहार की मार से बचने के लिए, रनिवास में दौड़ धाम हो रही थी । उनकी चीखों से सारा महल गूंज उठा । दासियां, सेवक दौड़े आए पर रानियों पर प्रहार तो अदृश्य रुप से चालू ही थे ।

राजा को पता लगा तो वस्तु स्थिति जान कर योगी के पास आया । दर्शन करते ही समझ गया कि यह कोई सिद्ध पुरुष है । प्रहार तो इस पर हो रहे हैं, पर प्रहारों का भोग तो बेचारी रानियां बन रही हैं । इसके साथ जोर-जबरी से नहीं अपितु विनय से काम लेने में ही सार है ।

राजा ने सुभटों को मारने से रोका । लाखों लोगों के देखते राजा, योगी के पांवों में झुक गया । राजा को ऐसा करते देख पुजारी व प्रजा गुसपुस करने लगे :- '' पता नहीं क्या उत्पात होने वाला है ? यह कौन सिद्धपुरुष है ? आज महादेव भोलानाथ भी न जाने कहां घूमने गए हैं ? क्यों ये सब सहन कर रहे हैं ? ''

'' प्रभो ! कहो आप किस कारण यहां बैठे हो ? आपकी क्या इच्छा है ? मेरा अपराध क्षमा करो । आप तो महान हो फिर जगत्पूज्य महादेव की आशातना क्यों कर रहे हो ? जल्दी उठो अपना



मूल स्वरुप प्रगट करो । आप कौन हैं ? हमारे पर मेहर की नजर रखो । महादेव को नमस्कार करके अपने अपराध की क्षमा मांगो ।''राजा ने विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर विनती की ।

'' अरे राजा, तेरा महादेव मेरा नमस्कार सहन नहीं कर सकता ।'' योगीराज ने अपनी शक्ति का परिचय दिया ।

'' तो क्या आप महादेव से भी ज्यादा शक्तिमान हो ? आप तो बच्चों को फुसलाने जैसी बात कर रहे हो । आप नमस्कार तो करो । हम भी देखें होता क्या है ?''

'' देखो, तुम्हारे महादेव को मैं नमस्कार करुं तो फिर कोई उत्पात मचे, तो मुझे दोष न देना ।''

योगी के वचनों से राजा घबराया भी और उसे आश्चर्य भी हुआ । फिर भी कौतुक देखने की इच्छा सभी को रहती है । यहां तो बिना पैसा खर्चे कौतुक देखने को मिलेगा । ऐसा सोचकर लोगों के मन को देखते हुए राजा बोला :-

'' योगिराज ! आप बेधड़क महादेव को नमस्कार करो । देखें क्या होता है ? ''

राजा के वचन सुन कर लाखों की मानव मेदिनी की आतुरता समक्ष योगीराज ने देवाधिदेव वीर भगवान की स्तुति बोलना शुरु किया । द्वात्रिंशिकास्तव काव्य, स्वशक्ति से बना-बना कर बोलते गए । तुरन्त धरणेन्द्र का आसन ध्वजा की तरह हिलने लगा । अवधिज्ञान से सब जान कर उसकी रोमराजी भी विकस्वर हो गई । दिवाकर गुरु आज स्वशक्ति व भक्ति से पार्श्वनाथ प्रभु का तीर्थ प्रगट करने का प्रयत्न कर रहे हैं , जान कर अपने स्थान पर बैठे बैठे सब मौज-शौक-गान नृत्य आदि छोड़ कर दिवाकर सूरि



की सहायता करने लगे । तुरन्त ही हजारों-लाखों लोगों की नजर समक्ष शिव लिंग में से धरणेन्द्र के प्रभाव से धूआं निकलना शुरु हो गया । सब लोग श्वास रोक कर विस्मय सहित देखते रहे । धीरे धीरे धूआं इतना वृद्धिगत हो गया कि सूर्य के प्रकाश को ढक कर निशा का समय प्रतीत होने लगा । ब्राह्मण पुजारी खुश हो गए कि " महादेव का कोप अब इसे पता चलेगा । अभी यह अपना तीसरा नेत्र प्रगट करके इस जोगीडे को जला कर भस्म कर देगें । अपनी आशातना का फल चखाएंगें ।"

द्वात्रिंशिका पूरी हुई । तुरन्त कल्याण मन्दिर की काव्य रचना शुरु हो गई । उसी समय शिव पिण्डिका में से धूएं के अन्दर से धधकती अग्नि जवालाएं धरणेन्द्र ने प्रकट कीं । ऐसा चमत्कार देख कर राजा व प्रजा शून्य मनस्क से बन गए । यह तो योगी के रुप में कोई देवता है अथवा तो खुद शंकर है, ऐसी बातें हो रही थीं ।

योगी तो अस्खलितपणे से अपनी तान में मस्त था । कल्याण मंदिर की ग्यारहवीं गाथा में ही आश्चर्य ! तुरन्त लिंग फटा और एक विशाल ज्योतिपुंज प्रगट हुआ जिसके तेज से आंखें चुंधियाने लगीं । इसके साथ ही एक अदृश्य भयंकर आवाज हुई जिससे मानों कान फटने लगे ।

धरणेन्द्र के प्रभाव से शिव लिंग फाड़ कर,भोंयरे में पधराई हुई प्रभु पार्श्व नाथ जी की कैसी अद्भुत प्रतिमा ! अति रमणीय प्रभा वाला, सुवर्णमय केशर वाला, अष्ट पंखुडी वाला कमल प्रगट हुआ । कमल के अन्दर से प्रभात के सूर्य सदृश, वह बिम्ब अकस्मात प्रगट हुआ ।

नागराजा धरणेन्द्र और पद्मावती देवी से सेवित सप्तफणा युक्त श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा देख कर राजा व प्रजा आश्चर्य



पाए । पार्श्व प्रभु को नमस्कार करके योगी, राजा से बोला :-

"राजन ! कहां तुम्हारा शिवलिंग और कहां ये तीन जगत के देव ! मेरी स्तुति तो यही देव सहन करने में समर्थ हैं । तुम्हारे राज्य में कैसा अन्याय चल रहा है देख लिया नं ! मूढ धर्मद्वेषी लोग प्रभु बिम्ब को भोंयरे में छिपा कर, ऊपर शिवलिंग बना कर महादेव के रुप में रोज पूजा करते हैं । पर वास्तविक महादेव तो यह स्वयं ही है, जो तुम्हारे आत्महित के लिए मैं ने प्रगट किया है । "

राजा को योगीराज की अपूर्व शक्ति पर दृढ़ आस्था बैठी । आज तक हरसिद्ध माता और महेश उमापति की भक्ति करने वाले राजा की, उन देवों के ऊपर से श्रद्धा डगमगाई । तथा पार्श्व प्रभु पर कोई अपूर्व भक्तिभाव जागा । राजा ने पूछा :-

हे भगवन् ! यह प्रतिमा किसने स्थापन कराई ? कब कराई ? इस का इतिहास कुछ बताओ तो विशेष कृपा होगी ।

अवन्ती पार्श्वनाथ

योगीराज बोले :- आप की जिज्ञासा है तो सब शांति से बैठ जाओ । इसका प्राचीन इतिहास कहता हूं :--

आज से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व मगधराज सम्प्रति राजा का राज्य था । उस पराक्रमी राजा ने त्रण खण्ड धरती पर अपनी सत्ता जमाई थी । उसके गुरु और वीर भगवान की आठवीं पाट पर बैठे आर्य सुहस्ति सूरि जी म० विहार करते एकदा उज्जयिनी नगरी में आए । वे भद्रा सेठानी की गौशाला में उतरे । रात को आवश्यक आदि क्रिया करके शिष्यों को नलिनी गुल्म विमान का अध्ययन पढ़ाने लगे ।

भद्रा सेठानी अनर्गल ऋध्दि से परिपूर्ण थी । उसका पुत्र अवन्ती



सुकुमाल उस जमाने में शालिभद्र की तरह बत्तीस स्त्रियों के साथ सुख भोगते, अपने महल में सातवीं मंजिल पर रहते यह भी नहीं जानता कि सूर्य कब उगता है कब अस्त होता है ? रात दिन स्त्रियों के हाव-भाव में ही मोहित, समय व्यतीत करता है ।

दैवयोग से नलिनीगुल्म विमान का अध्ययन करने वाले मुनियों के शब्द अवन्ती सुकुमाल के कानों से टकराए । वह प्रियाओं से दूर हट कर एकचित्त से सुनने लगा । उसे रस आया । एक दम उसे कुछ याद आया हो, ऐसा लगा । मैं ने यह विमान कहीं देखा है, पर कहां ? याद नहीं आ रही । तुरन्त सब छोड़-छाड़ कर नीचे उतर गया-पहुंचा गुरु के पास----सुनने लगा दत्तचित्त से । ऊहापोह करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ कि गत भव में मैं देव था, इसी विमान में । बस------मुझे फिर वहीं जाना है, ऐसा सोच कर वह गुरु जी से बोला :- "गुरुदेव! क्या आप नलिनीगुल्म विमान में से आए हो ? मैं भद्रा का पुत्र अवंति, आपका अध्ययन सुन कर, आया हूं ।" "भाई ! इस विमान की बात तूं कैसे जानता है ?" सातवीं मंजिल पर बतीस स्त्रीओं के साथ दिन-रात विलासी जीवन जीने वाले अवन्ती सुकुमाल को देख कर गुरुदेव विस्मय पाए और पूछा ।

अवन्ती सुकुमाल बोला :- " स्वामिन् ! आपके शब्द मेरे कान में पड़ते ही मुझे कुछ याद आया, ऊहापोह करते जातिस्मरण ज्ञान से मैं ने जाना कि मैं नलिनीगुल्म विमान में से आया हूं । आप कब पधारे ? "

"देवानुप्रिय ! मैं कोई वहां से नहीं आया परन्तु श्रुतज्ञान के बल से तीनों लोक की बात हम जान सकते हैं ।"

तत्पश्चात गुरुदेव ने नलिनीगुल्म विमान का स्वरुप कहा । जिसे सुन कर अवन्ती बोला :- "वहां मैं सत्वर जाऊं, ऐसा उपाय



कहो । ''

''देवानुप्रिय ! वह विमान तो दीक्षा लेने से ही मिल सकता है ।''

'' तो प्रभु, मुझे दीक्षा दे दो । ''

'' भाई ! दीक्षा, कोई बच्चों का खेल नहीं । दीक्षा पालना-लोहे के चने चबाना है । तुम्हारे जैसे सुकुमार का यह काम नहीं ।''

'' प्रभु ! दीक्षा लेने की तो अत्यन्त उत्कण्ठा है, पर दीर्घकाल पर्यन्त चारित्र पालने में असमर्थ हूं । अतः अनशन सहित दीक्षा दे दो ।''

'' महानुभाव ! यदि आपका ऐसा ही भाव है तो अपनी माता जी आदि की आज्ञा लेना जरुरी है । आज्ञा ले आओ ।''

गुरु के वचन सुन कर वह घर आया । माता से आज्ञा मांगी । बहुत मिन्नते कीं । माता वगैरह सभी परिवार ने जब आज्ञा न दी तो चुपचाप अपने हाथों से केश लुंचन करके साधु का वेश पहन कर सुहस्ति स्वामी जी के पास आ गया । गुरु जी ने विधिपूर्वक दीक्षा दे दी ।

पश्चात गुरु की आज्ञा से अनशन करके , श्मशान में जा कर कंथारिका कुण्ड (वृक्ष विशेष) के नीचे काउसग्ग ध्यान में खड़ा हो गया । उसके कोमल मांस और खून से खिंची एक शियालणी अपने बच्चों सहित वहां आ गई और सुकुमाल के शरीर को खाने लगी । थोडी ही देर में मुनि सुकुमाल महान वेदना को समभाव से सहन करते, काल करके, जहां से आए थे, वहीं अर्थात् नलिनी गुल्म विमान में महर्द्धिक देवपणे से उत्पन्न हुए ।

उधर भद्रा सेठानी सुबह बहुओं के साथ गुरु जी के पास आई



और अपने बेटे बारे पूछा । तब गुरु ने ज्ञानबल से उसका सर्व दुष्कार्य माता को कह सुनाया । सुनते ही माता व बहुएं आक्रन्द करने लगीं । तत्पश्चात एक गर्भवन्ती बहु को छोड़ कर एकत्रीश (३१) बहुओं के साथ संयम लेकर, शुद्ध पाल कर, स्वर्ग सिधारीं ।

उस गर्भवन्ती बहु ने बेटे को जन्म दिया । बड़ा होने पर अपने पिता का वृतान्त सुन कर जहां पिता की महामृत्यु-- महाकाल हुआ था वहीं मन्दिर बनवा कर महाकाल नाम रखा । उसमें पुरिसादानी पार्श्वप्रभु की अद्‌भुत प्रतिमा विराजमान की । बहुत काल तक उस प्रतिमा की पूजा होती रही ।

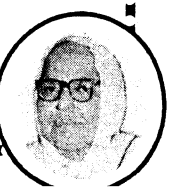
एक बार दाव देख कर ब्राह्मणों ने उस प्रतिमा को हटा कर, यह शिवलिंग वहां बिठा दिया । पुण्योदय से आज प्रभु मेरी स्तुति से प्रसन्न होकर प्रगट हुए हैं । धरणेन्द्र ने अपनी शक्ति से यह शिवलिंग तोड़ कर मूर्ति प्रकट की है । जो सत्य था, हे राजन् ! मैं ने तुम्हारे आगे निवेदन किया है ।''

योगीराज से सब जान कर राजा प्रजा आनन्दित हुए । राजा सम्पूर्ण श्रद्धावान बना । मन्दिर के निभाव के लिए सौ गांव दिए । दृढ़ जैन धर्मी बना । प्रभु पार्श्वनाथ की पूजा प्रवर्तमान हुई ।

वहां जैन लोग खूब आनन्द में आ गए । कोई नहीं जानता था कि यह महाकाल जैनों का तीर्थस्थल होगा । अब सबके मन में एक ही जिज्ञासा थी कि '' इस तीर्थ को प्रगट करने वाला यह योगी कौन?''

राजा बोला :-

'' योगीराज् ! आप अब अपना मूल स्वरुप प्रगट करो । सब की जिज्ञासा शान्त करो । ऐसी मेरी हाथ जोड़ विनती है ।''



" राजन् ! क्या आप मुझे नहीं पहचानते ? बहुत आश्चर्य है? क्या हजारों की मेदिनी में मुझे कोई नहीं जानता ?"

योगी की वाणी सुन कर सब विचार में पड़ गए ।सात-सात वर्ष से सूरि, गच्छत्याग करके गए, यह बात कइयों के मन में आई ।

" कहीं आप दिवाकर सूरि तो नहीं ? " एक विद्वान वयोवृद्ध आगेवान ने अपने उद्‌गार प्रगट किए । " आप वही हों तो प्रगट होओ । "

" तुम्हारा अनुमान ठीक है । पर अभी मेरे प्रायश्चित की अवधि शेष है । वह पूरी होगी तो जरुर प्रगट होउंगा । यहां का कार्य पूरा हो गया । अच्छा, अब मैं चलता हूं ।" योगीराज ने अपनी तैयारी बताई ।

योगीराज के वचन सुन कर संघ आनंद में आ गया । कुछ ही पलों में बात सारे शहर में फैल गई । महाराज विक्रमादित्य ने गुरु को पहचान कर पांव स्पर्श किए । श्री संघ ने वन्दना की । संघ से सलाह मशविरा करके राजा विक्रर्माक ने गुरु से कहा :-

"प्रभो, यद्यपि प्रायश्चित की अवधि शेष है । तथापि अमुक नवीन तीर्थ प्रगट हो और राजा को प्रतिबोधित करो तो आपको प्रायश्चित पूरा हो जाता है । संघ आपके पांच वर्ष माफ करके आपको संघ में (गच्छ में) लेने की तैयारी में हैं । संघ की विनती मान्य रखनी चाहिए । मुझे भी जैनधर्म का राग लगाया है, तो नित्य प्रति मेरी राजसभा में पधार कर शुद्ध देव-और धर्म का स्वरुप समझा कर मुझे चुस्त जैन बनाओ । अपना श्रावक-भक्त बनाओ ।"

तत्पश्चात् संघ के आगेवानों ने, नगर सेठ ने , पुनः राजा ने बार-बार विनती की । फिर तो.....



" योगीराज ! आप प्रगट होओ ! प्रगट होओ ।" ऐसा कोलाहल सा चारों तरफ मच गया ।

" सकल संघ यदि मुझे पवित्र मानता है, प्रभु महावीर की आज्ञा का पालन करते प्रयश्चित से मेरा उद्धार हुआ समझता है और मुझे गच्छ में लेने की इच्छा रखता है तो संघ की आज्ञा मानना मेरा फर्ज है ।"

योगीराज के वचन सुनते ही तुरन्त राजा और नगर सेठ ने सकल संघ की आज्ञा से योगी का वेश उतार कर, साधु वेश दिया । इस तरह सात साल बाद सिद्धसेन दिवाकर सूरि प्रकट हुए ।

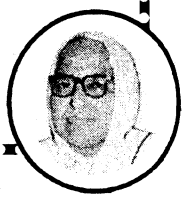
जयनादों से आकाश गूंज उठा । खूब महोत्सव पूर्वक नगर प्रवेश कराया । देश-परदेश सकल-संघों में समाचार मिलते ही आनन्द-आनन्द छा गया ।

सूरि जी भी नित्य राजसभामें, जा कर राजा को बोध देने लगे । राजा दृढ जैन धर्मी बन गया ।

कुछ दिन उज्जयिनी में स्थिरता करके विक्रमादित्य राजा को चुस्त जैन धर्मी बनाया । समकित का स्वरुप समझा कर देव-गुरु और धर्म का बोध कराया ।

अवन्ती पार्श्वनाथ की प्रतिमा और मन्दिर का पुनरुद्धार करा कर राजा ने दिवाकर सूरि जी के हाथ से ही प्रतिष्ठा कराई । नित्य अरिहन्त की भक्ति करने लगा । उसे देख कर उसके Under में रहे, राजा भी जैन धर्म मानने लगे । दिवाकर सूरि अन्यत्र विहार कर गए ।

दिन बीतने लगे-मास व्यतीत हो गए और क्रमशः वर्ष पर वर्ष बीतने लगे । दिवाकर सूरि जैनधर्म का उद्योत करते हुए गांव-गांव, नगर-नगर भ्रमण कर रहे थे । भव्य जीवों को वीतराग-वाणी का



पान कराते स्थान स्थान पर विचरण करते हुए एक दिन ओंकार नगर में पधारे । श्री संघ को बहुत हर्ष हुआ । सोल्लास नगर प्रवेश कराया । वीतराग की वाणी का प्रवाह अस्खलित रुप से नित्य बहने लगा।

एक दिन मध्यान्ह समय बाद सूरि जी के पास संघ के आगेवान कुछ सलाह-मशविरा कर रहे थे । कई विशेष बातों की चर्चा चल रही थी । सूरि जी को बताया गया कि " इस ओंकार नगर में ब्राह्मणों का अति जोर है । हम तो अल्प संख्या हैं । ब्राह्मण लोग हमें जैन मन्दिर बनाने नहीं देते । उनका इतना जोर है कि हम टक्कर नहीं ले सकते । आप समर्थ पुरुष हैं । आप ही यह कार्य कर सकते हैं ।"

" ठीक है, मैं ब्राह्मणों से मिलूंगा , बात करुंगा ।"

" ना-ना गुरुदेव ! उनसे मत मिलना । विक्रमादित्य राजा की आज्ञा यहां चलती है । वह तो आपका शिष्य है, भक्त है । वह यदि ध्यान दे तो काम हो जाए । आप कैसे भी राजा को समझाना और हमारा मनोरथ पूर्ण करना ।"

" ठीक है, मैं विक्रम को समझा कर यह कार्य त्वरा से करा दूंगा । "

" सूरीश्वर ! इतना याद रखना कि राजा तत्काल इसके लिए मानेगा नहीं । पहले उसे किसी तरह वचनबद्ध करना, अथवा उसे प्रसन्न करना, फिर अपना काम कर देगा ।"

" तुम्हारी बातें लक्ष्य में रखूंगा । अब हम उज्जयिनी तरफ विहार करेंगें, जैसा उचित लगेगा, करेगें ।"

इस प्रकार विश्वास दिला कर संघ के आगेवानों को विदा किया । स्वयं भी अपने शिष्य परिवार सहित कुछ दिन वहीं रुक



कर उज्जयिनी तरफ प्रयाण किया ।

एक दिन ----------

विक्रमादित्य राजा सभा में बैठा था । उसी समय द्वारपाल ने आकर नमस्कार किया और बोला :----

" स्वामिन् ! द्वार पर कोई भिक्षु हाथ में चार श्लोक लेकर आया है । द्वारपालों के रोके जाने पर दरवाजे पर खड़ा है । कहो, वह आए अथवा जाए ।"

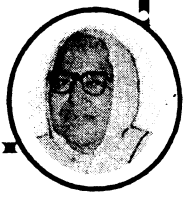
" चार लाख रुपया दो अथवा चौदह हाथी उसे दे दो । फिर उसे आना हो तो आए, जाना हो, जाए ।"

राजा का प्रत्युत्तर द्वारपाल ने योगी को जाकर कह सुनाया । सुन कर योगी ने राज्यसभा में प्रवेश किया । राजसम्मत आसन पर बैठ कर योगी ने चार श्लोक बोले । (१) "यह अपूर्व धनुर्विद्या तुम कहां से सीखे हो ? जिसमें मार्गण (बाण और याचक) समूह तो सामने आता है परन्तु गुण (धनुष की डोरी तथा लोकप्रियतादि गुण) दूसरी दिशाओं में जाता है ।"

इस श्लोक से रंजित होकर विक्रम राजा ने पूर्व दिशा का राज्य योगी को दे दिया । पूर्व दिशा तरफ पीठ करके बैठ गया ।

सिद्धसेन ने उसके सम्मुख जाकर दूसरा श्लोक बोला जिसका भावार्थ था :- " हे राजन् ! आप सभी वस्तुओं का दान देते हो, ऐसी जो पण्डित आपकी स्तुति करते हैं, वह मिथ्या है । क्योंकि आपने कभी भी शत्रुओं को पीठ का और पर स्त्री को हृदय का दान नहीं दिया ।"

राजा उस दिशा तरफ से हट कर तीसरी दिशा तरफ मुंह करके बैठा । तब योगी उसके सन्मुख जा कर तीसरा श्लोक बोला । जिसका भावार्थ थाः-



" हे मालवराज ! आपकी कीर्ति सारी धरती पर भ्रमण कर आई तथापि उसे शान्ति न मिली । तो वह चारों समुद्र में गई । वहां भी शीत से ठण्डी हो गई । फिर सूर्य के ताप की गर्मी लेने जल्दी-जल्दी सूर्य मण्डल में गई-अर्थात तीनों भवन में आपकी कीर्ति विस्तृत हो चुकी है ।"

राजा तीसरी दिशा से मुख फेर कर चौथी दिशा में बैठा । तब योगी ने सामने जाकर चौथा श्लोक बोला, भावार्थ था :-

" राजन् ! सरस्वती तो आपके मुख में बसी हुई है । लक्ष्मी कर कमल में रही हुई है । जिससे कीर्ति को आपके पास रहने का क्या कोई भी स्थान न मिला कि वह कोपायमान होकर देशान्तर में चली गई ।"

राजा ने चारों दिशाओं का राज्य दान में दे दिया तथापि सिद्धसेन जी ने आगे एक श्लोक बोला,भावार्थ था :- हे राजन ! शमशेर की धारा से शत्रुओं का मर्दन करने से आश्चर्य है कि उसमें से दो वस्तु प्रगट होती हैं । लक्ष्मी आपको मिलती है और यश : दूर चला जाता है ।"

सुन कर राजा सूरि जी के पांव में पड़ गया ।

" गुरुदेव ! अब मेरे पास कुछ नहीं । क्या दूं ? सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित कर चुका हूं । मैं स्वयं भी आपको बिका हुआ हूं । अब क्या आदेश है ? "

" राजन् ! बारह व्रतधारी शुद्ध श्रावक बन कर रहो तो मुझे सर्वस्व दान दिया है, मैं मानूंगा ।"

" जैसी गुरुदेव की आज्ञा । आप स्वरुप समझाना मैं पालन करुंगा । परन्तु आपको इसमें क्या लाभ ? आप अपने लिए कुछ



मांगो ।''

'' आपकी इच्छा है देने की तो मेरा एक काम करना, ओंकार नगर में जैन प्रासाद सत्वर तैयार कराना । जैनधर्म का विजयध्वज वहीं फरकाना ।''

'' आपकी आज्ञा का पालन होगा । श्री संघ को संतोष होगा ।''

राजा की आज्ञा से सूरि जी को भी सन्तोष हुआ । थोड़ी देर धर्मगोष्ठी करके सूरि जी उपाश्रय में गए ।

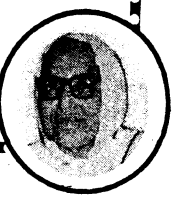
प्रतिदिन धर्मश्रवण से राजा, परिवार सहित दृढ़ समकितवन्त बारह व्रतधारी शुद्ध श्रावक बना ।

अल्प समय में राजा ने कुशल शिल्पियों द्वारा अति रमणीय, शिव मन्दिर से उंचा, चार द्वार वाला मन्दिर, ओंकार नगर में निर्माण करा दिया । दिवाकर सूरि जी के हाथों राजा ने स्वयं प्रतिष्ठा कराई, नगर के संघ को खूब आनन्द हुआ ।

एक दिन सूरि जी ने राजा को लक्ष्मी की चंचलता का स्मरण कराया । जिसका वर्णन सुन कर राजा बोला :-

''गुरुदेव ! कोई ऐसा महान कार्य बताओ कि जिससे मैं लक्ष्मी का सद्व्यय करुं, संसार में अपना नाम अमर करुं और मनुष्य जन्म सफल करुं ।''

''तुम्हारे जैसे परदुखभंजक राजा को कुछ करना ही चाहिए । कलिकाल को हटा कर दुनियां को अनृणी बना कर जगत का दारिद्र समुद्र में डुबो दो । दान, मुक्ति की सीढ़ी है । समकित , शुद्धता की निशानी है । दान पांच प्रकार का है :- अभयदान, सुपात्रदान,अनुकम्पादान उचितदान और कीर्तिदान ।



उसमें प्रथम के दो दानों का मुख्य फल मुक्ति है । शेष तीन सांसारिक ऋद्धि दाता हैं । पर दान किया कभी व्यर्थ नहीं जाता । तीर्थंकर भी दीक्षा के समय संवत्सरी दान, वर्ष पर्यन्त देते हैं ।''

गुरु के उपदेश का प्रभाव राजा के रोम रोम में व्याप्त हो गया । राजा ने अपने धन-धान्य के भण्डार खुले कर दिए । कर्जदारों का कर्ज चुकवा दिया । सब को अपनी शक्ति अनुसार सुखी किया । सारी पृथ्वी को अनृणी कर के राजा विक्रमादित्य ने गुरु महाराज की आज्ञानुसार वीर सम्वत ४७ में, अपना संवत्सर शुरु किया । देश परदेश में वह फैल गया । विक्रम संवत्सर से विक्रम राजा का मुबारिक नाम आज पर्यन्त प्रसिद्ध है ।

पश्चात दिवाकर सूरि जी वहां से अन्यत्र विहार कर गए । अनुक्रम से भुगुकच्छ में लाट देश में गए । वहां भव्य जीवों को प्रतिबोधित कर के वत्सदेश में गए । वहां से गौड देश में महाराष्ट्र, दक्षिण महाराष्ट्र, देश परदेश विचरते प्रतिष्ठानपुर नगर में वादि कुंजर पधारे ।

समय किसी की शर्म नहीं करता ? जिसे उत्पन्न करता है, उसे ही भक्षण करजाता है । विक्रम सम्वत्सर को तीस वर्ष पूरे हो गए प्रतिष्ठानपुर में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सूरी जी ने अपने ज्ञान से जाना कि आयु अब पूरी होने वाली हे । अतः समाधि मरण, पण्डित मरण से आत्मा का कल्याण करुं । ऐसा विचार कर.....

वहां के सकल संघ को एकत्रित करके सभी से क्षमापना की । योग्य शिष्य को आचार्य पद पर आसीन कर के गुरु जी चारों आहार का त्याग करके संलेखना पूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुए । देवलोक में महर्द्धिक देव के रुप में उत्पन्न हुए । सकल संघ



को अनाथ कर के अश्रुभीनी आंखों से सबकी विदा लेकर परलोक चले गए ।

प्रतिष्ठानपुर के राजा और श्री संघ ने देश परदेश में संघों को समाचार देने के लिए एक होश्यार भाट को भेजा । देश परदेश समाचार मिलते, भारत के सकल संघ में गमगीनी फैल गई ।

" वह वैतालिक भाट फिरते फिरते सभी संघों को समाचार से रुलाते, सिद्धसेन सूरि जी की संसारी भगिनी " सिद्ध श्री साध्वी" चितौड नगर में थी, वहां आया । वहां भी गांव में घोषणा करते बोला :-

" स्फुरन्ति वादि खद्योताः सांप्रतं दक्षिणा पथे ।"अर्थात-दक्षिण देश में अब वादि रुप जुगनु उत्पन्न हो रहे हैं ।

" सिद्ध श्री " के कान में उपरोक्त पद पड़ा तो महापंडिता वह बोल उठी :-

" नूनमस्तंगतो वादी, सिद्धसेनो दिवाकरः ।"

" निश्चित है कि सिद्धसेन दिवाकर सूरि अवसान को प्राप्त हुए हैं ।"

पश्चात अश्रुपूरित नेत्रों से सब समचार पूछे । सिद्धश्री भी अनशन स्वीकार कर सबसे खिमत-खामणा कर के शास्त्र-विधि पूर्वक समाधि मरण से सद्गति को प्राप्त हुई । भाट अन्यत्र चला गया । विक्रम राजा को भी अति आघात लगा ।

वन्दन हो, ऐसे उपकारी-----

सूरिदेव को !!!



श्री कुमारपाल महाराजा

बात उस समय की है जब पाटण नगर पर महाराजा सिद्धराज का राज्य था ।

सिद्धराज के पिता थे राजा कर्ण- उन्होंने प्रसन्न होकर अपने भतीजे, देव प्रसाद को दधिस्थलि, जो पाटण के पास का गांव था, वह भेंट रुप दे दिया था । देवप्रसाद दधिस्थलि का शासक बन गया । सुख से समय व्यतीत करते उसे एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई । जिस का नाम रखा त्रिभुवनपाल ।

त्रिभुवनपाल जब यौवनावस्था को प्राप्त हुआ, तब उसकी शादी काश्मीरा देवी के साथ की गई । क्रमशः कश्मीरादेवी को गर्भ काल के समय उत्तम दोहद उत्पन्न हुए । यथा, सर्व पृथ्वी का रक्षण करुं, जीवों को अभय दान दूं, सर्व व्यसनों का त्याग कराऊं इत्यादि । राजा त्रिभुवन पाल ने उन सभी दोहदों को पूर्ण कराया ।

योग्य समय आने पर शुभ मुहूर्त में पुत्र का जन्म हुआ । तभी आकाशवाणी हुई :-

"आपका यह पुत्र सत्त्वादि गुणों से पृथ्वी को जीत कर धर्मसाम्राज्य स्थापित करेगा ।"

आकाशवाणी सुन कर माता पिता को अपार हर्ष हुआ । बालक का नाम रखा कुमारपाल । योग्य वय हो जाने पर एक स्वरुपवान, सुशील व सुसंस्कारी कन्या, भोपल देवी के साथ पाणिग्रहण हुआ । एक दिन---



कुमारपाल किसी कार्यवश राजा सिद्धराज के पास पाटण गया । तब वहां उसे आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी के दर्शन का सौभाग्य मिला । प्रथम ही परिचय था । आचार्य म. से तब उसने 'परनारी सहोदर' व्रत धारण किया । गुरुदेव की वाणी से कुमारपाल बहुत प्रभावित हुआ ।

एक बार सिद्धराज महाराजा, आचार्य हेमचंद्र सूरि जी की निश्रा में पालीताणा-गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए देवदत्त नगर में आए । वहां पर सिद्धराज ने सोमेश्वर महादेव की पूजा की । पश्चात आचार्य म० के पास आकर विनती करने लगा कि :-

" गुरुदेव ! आप अम्बादेवी की आराधना करके यह पूछो कि मुझे पुत्रप्राप्ति होगी या नहीं ? मेरे बाद मेरे राज्य का मालिक कौन होगा, यह बताओ । "

आचार्य म० ने उसकी बात को स्वीकार करके वहीं अट्ठम तप की तपश्चर्या पूर्वक अम्बा देवीकी आराधना की और सिद्धराज के बारे सब पूछा । तब देवी ने कहा :-

" सिद्धराज के भाग्य में पुत्र नहीं है । गुजरात का राज्य त्रिभुवन पाल का बड़ा बेटा, कुमार पाल भोगेगा । वह जैन धर्म का खूब विस्तार करेगा । "

यह सब वृत्तान्त जब सिद्धराज ने जाना , तो उसे बहुत दुख हुआ । खिन्न मन से वह पाटण तक पहुंचा । पाटण के सुयोंग्य ज्योतिषियों को बुला कर , उसने पुत्रप्राप्ति व राज्याधिकारी के बारे पूछा । उन्हों ने भी देवी के कथनानुसार ही उत्तर दिया ।

सिद्धराज उदास रहने लगा । एक बार वह पैदल ही सोमनाथ पहुंच गया । वहां जाकर वह अन्न जल का त्याग कर के पूजन



विधि करके ध्यान में बैठ गया । दो दिन तो ऐसे ही व्यतीत हो गए । तीसरे दिन सोमनाथ देव प्रगट हुए और बोले कि तेरे भाग्य में पुत्र नहीं है । खेद न कर । तुम्हारी गद्दी का मालिक कुमारपाल होगा । वह योग्य शासक बनेगा ।

सिद्धराज वापिस आ गया । अब वह यह निरन्तर सोचता रहता कि किस प्रकार इस कुमार पाल को और इसके पिता आदि परिवार को समाप्त करुं । दिन रात वह इस के लिए योजना बनाता रहता ।

और एक दिन------

अपनी गुप्त योजनानुसार उसने कुमारपाल के पिता,त्रिभुवन पाल का गुप्त रीति से वध करा दिया । अब कुमारपाल को सिद्धराज के षडयन्त्र का भेद मालूम हुआ । वह अपने दो छोटे भाई-एक बहन और अपनी पत्नी भोपल देवी को दधिस्थली में छोड़ कर स्वयं जटाधारी साधु बन कर गुप्त रीति से देशान्तर में घूमने लगा ।

सिद्धराज ने उसे पकड़ने की बहुत कोशिश की । सब जगह अपने गुप्तचर रखे परन्तु निष्फल ।

बहुत दिन बीत गए । एक दिन कुमारपाल की इच्छा हुई कि अपने परिवार से, सगे सम्बन्धियों से मिलूं । अत : वह परिव्राजकों की एक टोली, जो पाटण जा रही थी, उनके साथ मिल गया और पाटण पहुंच गया । सिद्धराज ने अपने गुप्तचरों को नियुक्त किया ही हुआ था ।

गुप्तचरों को सन्देह हुआ कि कुमारपाल परिव्राजक के रुप में आया हुआ है तो उन्होंने सिद्धराज को सूचित किया । सिद्धराज ने भोजन का निमन्त्रण भेजा । सभी परिव्राजकों के साथ साथ



कुमारपाल भी राजमहल में भोजनार्थ आया । सिद्धराज ने सबके पैर धोने व पोंछने की योजना बनाई थी । उस योजना को क्रियान्वित करते जब कुमार पाल का नम्बर आया तो उसके पैरों में राजचिन्ह होने से वह तुरन्त पहचान लिया गया । सिद्धराज ने निर्णय लिया कि भोजन कर ले, पश्चात इसे मार डालेंगे । अब कहां जा सकता है ?

कुमारपाल की आयुष्य बलवान थी । भवितव्यता को कौन टाल सकता है ?

कुमारपाल भी सतर्क था । वह भी सिध्धराज के मनो भावों को जान गया । अब उसे लगा कि यहां से अब निकलना कठिन है । युक्ति से ही सफलता की आशा है । वह भोजन करते वमन करने लगा । इसी बहाने वह वहां से आंख चुरा कर भाग निकला ।

सिध्धराज को ज्यों ही पता चला, वह आग बबूला हो कर सबको डांटने लगा । उसने अपने सुभटों को कुमारपाल का पीछा करने के लिए भेजा । कुमार पाल भी भागता हुआ एक किसान के खेत में घुस गया । किसान को अपनी आपबीती बता कर शरण चाही । किसान ने एक खड्डा खोदा उसमें उसे उतार कर ऊपर कांटों की बहुत बडी ढेरी लगा दी । सुभट आए । चारों तरफ देखा और वापिस हो गए ।

तत्पश्चात किसान ने कुमारपाल को कांटों से बाहर निकाला । उसके शरीर में कांटे लगने से खून निकल रहा था । किसान का परिचय ले कर आभार मानता हुआ वह वहां से दधिस्थली के मार्ग पर चलने लगा ।

चलते-चलते कुमारपाल एक वृक्ष के नीचे आराम करने



बैठा । पास में ही उसने वहीं एक दृश्य देखा । एक चूहा बिल में से निकला, एक सोना मोहर अपने मुंह में से निकाल कर, बिल के पास ही रखी । फिर बिल में घुस गया । दूसरी सोना मोहर ले कर आया । उसे भी पहली सोना मोहर के पास रख कर तीसरी ले कर आया । इस प्रकार एक एक करके उसने बत्तीस सोना मोहरों की एक ढेरी सी बनाई और फिर उस ढेरी पर चढ़ कर नृत्य करने लगा । उसकी खुशी उसके प्रत्येक अंग से निकल रही थी । अचानक उसे कोई आहट सी महसूस हुई । वह दौड़ कर अपने बिल में घुस गया ।

कुमारपाल, जो सामने बैठा यह सब दृश्य देख रहा था, उसने सोचा, यह तिर्यंच जाति का प्राणी, इसके काम क्या आएंगी ये इतनी सोना मोहरें ? अब यह चूहा बिल के अन्दर गया है, मैं अवसर का लाभ उठा लूं ,मेरे पास तो एक पैसा तक नहीं, इन मोहरों से मुझे बहुत राहत मिलेगी, अन्यथा ये तो जंगल में पड़ी हैं , किस काम आएंगी इत्यादि विचार करते करते वह त्वरा से उठा, और सभी सोना मोहरें उठा कर, पुनः वहीं अपने स्थान पर जा कर बैठ गया यह देखने के लिए कि देखूं,चूहा बाहर आ कर क्या करता है ?

कुछ ही पल बाद चूहा बाहर आया-------उसे मोहरें दिखाई न दीं---वह घूम-घूम कर मोहरें ढूंढने लगा-पर अन्त में निष्फल हो कर, जहां सोना -मोहरें रखी थीं , वहीं पर जोर-जोर से सिर पटकने लगा--इतनी देर तक वह सिर पटकता रहा कि अन्त में उसकी वहीं मृत्यु हो गई ।

कुमारपाल यह सब अपनी आंखों से देख रहा था । चूहे की सिर पटक-पटक कर मौत ने, कुमारपाल के हदय को द्रवित कर दिया । चूहे की मृत्यु से उसे अपार खेद हुआ । वह सोचने लगा



कि मानव को तो धन की आसक्ति होती ही है परन्तु तिर्यंच तुच्छ प्राणियों के लिए भी धन, ग्यारहवां प्राण है, यह आज ही प्रतीति हुई । चूहे की मौत का मैं ही निमित्त बना हूं । मैंने तो कौतुक मान कर ही ऐसा किया था, परन्तु यह चूहे के मरण का कारण बन गया ।

कुमारपाल इस प्रकार पश्चाताप करता हुआ, वहांसे आगे बढा... चलते चलते उसे तीन दिन हो गए । भूख प्यास के कारण उसे चक्कर आने लगे... आंखों के आगे अन्धेरा सा छाने लगा । वह वहीं पर बैठ गया । अर्ध मूर्छित सी अवस्था हो रही थी, वह लेट गया, आंखें बंद थीं ।

उसके पुण्य योग से, उसी रास्ते पर वहां एक वणिक श्रेष्ठी की पुत्री रथ में बैठ कर जा रही थी । कुमारपाल की हालत देख कर उसे दया आ गई । उसने रथ रुकवाया । रथ से नीचे उतरी... कुमारपाल को शीतलोपचार से होश में लाई । रुचिपूर्वक उसे खाना खिलाया । परस्पर एक दूसरे का परिचय लिया । जाते जाते कुमारपाल ने कहा कि "बहन, जब मुझे राज्य मिलेगा तब तुम्हारे ही हाथों से प्रथम तिलक कराऊंगा ।"

वहां से प्रस्थान करके, चलते चलते कुमारपाल पुनः दधिस्थली पहुंच गया । क्रमशः सिद्धराज को पता लगने पर उसने उसे पकड़ने के लिए सेना भेजी । कुमारपाल को सेना का समाचार मिलते ही अपने कुटुम्ब को उज्जैन चले जाने का कह कर स्वयं भी भाग गया । सेना ने पीछा किया । कुमारपाल ने कुम्हार के निंभाडे (भट्टे) में छिप कर अपने प्राण बचाए ।

इस प्रकार कुमारपाल अपने जीवन में संघर्षों से जूझता हुआ-कष्टों को सहन करता हुआ, भावि की सुखद कल्पनाओं की आशा ले कर, आगे आगे बढ़ रहा था । किसी कवि ने कहा है :-



संघर्षों को देख कर बिलकुल धैर्य न छोड़ ।
लाते हैं संघर्ष ही, जीवन में कुछ मोड़ ॥

चलते-चलते ग्राम-नगर पार करते वह खंभात पहुंचा । वहां पर आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि जी म० के उसे दर्शन हुए । बातचीत के दौरान आचार्य भगवन् ने कहा :-

"कुमारपाल ? अब तूं चिन्ता न कर । थोडे ही दिनों में तुम्हें राज्य मिलने वाला है ।

कुमारपाल ने आग्रह करके पूछा :-

भगवन् ! यह तो बताओ कि किस दिन मिलेगा ? मै तो अब बहुत थक चुका हूं । प्राण बचाने के लिए क्या नहीं सहा ? मेरे कष्टों का छुटकारा कब होगा ?

आचार्य भगवन् ने कहा :-

"कुमारपाल ! इतना समय धीरज रखा है, सहनशीलता रखी है, थोड़े दिन और तुझे धैर्य रखना पड़ेगा । संवत ११९९ मृगशिर वदि चौथ के दिन तुझे राज्यगद्दी मिलेगी, इतना निश्चित जान ।"

इसी बीच वहां राज्य का मन्त्री 'उदयन' आ पहुंचा । वन्दनादि करके जब वह बैठा तो गुरुदेव बोले :-

"मन्त्रीश्वर ! यह तुम्हारा सहधर्मी है । इसका नाम कुमारपाल है । अभी दुखी अवस्था भोग रहा है । परन्तु भविष्य में यही राज्य का मालिक बनने वाला है, आदि ।"

उदायन मन्त्री गुरुदेव के संकेत को समझ कर, कुमारपाल को अपने घर ले गए और अच्छी प्रकार आदर सहित रखा ।

'कुमारपाल खम्भात में है ।' यह समाचार मिलते ही सिद्धराज



ने तुरन्त वहां अपने सुभटों को भेजा । इस बात का पता लगते ही कुमारपाल, आचार्य म. की शरण में उपाश्रय में आ गया । आचार्य श्री ने उसे एक भोंयरे में छिपा दिया । सिद्धराज के सुभट उपासरे में भी कुमारपाल को खोजने आए, पर सफलता न मिली ।

सुभटों के निराश वापिस चले जाने पर, उदायन मंत्री ने गुरुदेव के परामर्श के अनुसार, कुमारपाल को कुछ द्रव्य की सहायता देकर बडौदा भेज दिया । बडौदा पहुंच कर, वह अपने परिवार को मिलने के लिए, उज्जैन चला गया । समाचार मिलते ही सिद्धराज ने वहां पर भी, अपने सुभटों को भेजा । कुमारपाल वहां से भाग खड़ा हुआ । रात-दिन इधर-उधर घूमते हुए, ठोकरें खाते हुए पुनः उज्जैन पहुंचा और अपने कुटुम्ब को साथ ले कर पाटण तरफ प्रयाण किया ।

क्रमशः जब सिद्धराज की मृत्यु हुई तब गुजरात का राज्य सूना हो गया । उसकी बागडोर कुमारपाल ने सम्हाली । वह दिन था वि.सं. ११९९ मृगशिर वदि चौथ, रविवार और नक्षत्र था पुष्य ।

जिस बहन को उसने वचन दिया था, उसे उसके गांव से निमन्त्रण दे कर बुलवाया और सर्वप्रथम तिलक उसी से करवाया । भेंट स्वरुप उसे अनेक वस्त्राभूषण दिए । जिस जिस ने भी कुमारपाल की विपत्ति के समय में सहायता की थी, उन सबको बुला कर अनेक उपहारों को सादर भेंट देकर, उन्हें प्रसन्न किया ।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी म० के संसर्ग व उपदेश से जैन धर्म अंगीकार किया । जो चूहा मर गया था, उसके प्रायश्चित में बत्तीस मंजिल जितने उंचे शिखर वाला, तारंगा में ही अजितनाथ भगवान का, मन्दिर बनवाया । उसे मूषक विहार भी कहा जाता है ।

कुमारपाल महाराजा, राज्य का न्याय-नीति और धर्म पूर्वक सुन्दर



रीति से पालन करता था । दिन-प्रतिदिन जैन धर्म की उन्नति हो, ऐसे कार्य करता था ।

अठारह देशों का मालिक महाराजा कुमारपाल गुरुदेव के चरणों में नित्य उपस्थित होता था । उसके १८ देश में कोई भी जीवहिंसा न करे, ऐसा प्रबंध कराया था । यहां तक कि घोड़े आदि पशुओं को भी, पानी छान कर पिलाया जाता था ।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी के पास से कुमारपाल ने श्रावक के बारह व्रत धारण किए थे । अहिंसा प्रेमी और देव-गुरु और धर्म के अनुरागी महाराजा कुमारपाल की देवभक्ति- गुरुभक्ति- ज्ञान भक्ति व धर्म प्रेम अजोड़ था ।

एक दिन...

महाराजा कुमारपाल ने भगवान की पुष्प पूजा करते समय सुन्दर अगंरचना करके , द्रव्य पूजा के पश्चात भाव पूजा स्वरुप चैत्यवन्दन की । तत्पश्चात वह आरती उतारने लगा । आरती उतारते-उतारते- उसके हाथ एकदम स्तम्भित से हो गए । समीपस्थ सामन्तों ने कारण पूछा तो बोले :-

" मैं ने भगवान की पुष्प पूजा करते समय जो अंगरचना की है , वह कितनी अच्छी लग रही है तथापि मुझे अभी यह विचार आया कि भगवान की आंगी यदि छः ऋतु के फूलों से की जाए तो वह कितनी अद्वितीय लगे । मैं अठारह देश का मालिक होने पर भी भगवान की पूजा , सामान्य व्यक्ति की भान्ति , एक ही ऋतु के पुष्पों से करता हूं । ऐसी मेरी प्रभु-भक्ति में क्या विशेषता ? अतः मैं ने प्रतिज्ञा की है कि जब तक छः ऋतु के फूलों से पूजा न करुं तब तक अन्न-जल का त्याग है । " मन्त्री ने कहाः-



" स्वामिन् ! यह तो अशक्य है । आपने ऐसी क्यों प्रतिज्ञा की ? छः ऋतु के फूल, कहां से मिलेंगें ? "

कुमारपाल आंखें मूंद कर ध्यान में बैठ गया । उसे देव-गुरु-धर्म पर पूर्ण श्रद्धा थी । उसी श्रद्धा के बल से तथा कुमारपाल के सत्त्व से दूसरे ही दिन उसके उद्यान में छः ऋतु के फूल खिल गए । राजा ने छः ऋतु के फूलों से पूजा करने के पश्चात पारणा किया ।

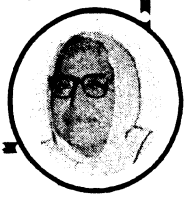
ऐसी थी उसकी देव-गुरु पर भक्ति व अनन्य विश्वास । आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी ने जितने भी ग्रन्थ रचे, वे सभी कुमारपाल ताडपत्रों पर लिखवाता जाता था । उनका उपाश्रय लेखनशाला जैसा बन गया था । रोज सात सौ लहिया (लिखनेवाले आदमी) लिखने का कार्य करते थे । लेखन कार्य नियमित चालू ही था ।

एक दिन-----

कुमारपाल महाराजा कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी म० को जब वन्दन करने आए तो गुरुदेव तथा प्रत्येक साधु म० को विधि पूर्वक वन्दन कर कुमारपाल राजा लेखनशाला देखने गया । वहां लहियाओं को ताडपत्र के बदले कागज के पन्नों में लिखते देख कर राजा को आश्चर्य हुआ । वह फिर से गुरु म० के पास आया । पुनः वन्दन कर सुख शाता पूछा और कागज पर लिखने का कारण भी पूछा । तब गुरुदेव ने बताया :-

" हे चौलुक्य शिरोमणि ! ज्ञान भण्डार में ताडपत्रों की बहुत कमी है । अतः क्या किया जाए ? कागज पर ही लिखाए जा रहे हैं । "

यह सुन कर कुमारपाल को बहुत लज्जा महसूस हुई । वे



मन ही मन विचार करने लगे :-

" अहो ! ग्रन्थों के नवनिर्माण करने की गुरुदेव की अजब शक्ति है । मुझे धिक्कार है कि मेरे में तो उन ग्रन्थों को लिखवाने की सामग्री जुटाने तक की भी शक्ति नहीं । तो फिर मेरा श्रावकपणा किस काम का ? "

इस प्रकार विचार कर , खड़े होकर गुरु भगवंत समक्ष हाथ जोड़ कर कहा :-

" गुरुदेव ! उपवास का पचक्खाण दीजिए ।" गुरु जी ने कहा :-

"अरे, आज कैसा उपवास ! आज पांचम,आठम या चौदश आदि कोई तिथि नहीं । कोई पर्व का दिन नहीं । फिर आज क्यों उपवास का पचक्खाण ? "

" गुरुदेव जी ! लेखन के लिए ताडपत्र पूरा करुंगा तभी मैं भोजन करुंगा । "

" कुमारपाल ! ऐसा क्यों सोचता है ? ताडपत्र क्या नजदीक है ? तात्कालिक पूरा कैसे कर पाएगा ?"

गुरुदेव ने और सामन्तों ने भी बहुत रोका तथापि कुमारपाल ने चारों आहार का त्याग कर दिया और शासन देवी के ध्यान में बैठ गया ।

ध्यान और भक्ति के प्रभाव से उसके उद्यान में जो नकली तालवृक्ष थे वे सभी सच्चे तालवृक्ष बन गए । कुमारपाल ने वे पत्रे गुरुदेव को अर्पण करके, फिर पारणा किया । गुरुदेव ने उन पत्रों पर ग्रन्थ लिखवाए ।

"अहो जिनागमे भक्तिरहो गुरुषु गौरवम् ?



श्री कुमारपाल महीभर्तुरहो निःसीम साहसम् !!

ऐसे श्री कुमारपाल महाराजा की श्री जिनागमों में उत्तम भक्ति और गुरु भगवन्त पर भी कैसा सुन्दर बहुमान भाव ? उनका साहस भी कैसा निःसीम ?

कुमार पाल महाराजा ने आचार्य महाराज के उपदेश से बारह व्रत धारण किए । उसमें छठे व्रत में पाटण के बाहर नहीं जाने का अभिग्रह किया था । इस अवसर का लाभ उठा कर एक बलशाली अन्य राजा ने पाटण पर चढ़ाई कर दी परन्तु आचार्य महाराज के व धर्म के प्रभाव से उस शकराजा को भी वश होना पड़ा । ऐसे अनेक प्रसंग राजा के जीवन में बने ।

एक दिन जीवदया प्रतिपालक महाराजा कुमारपाल पौषध में बैठे काउसग्ग कर रहे थे । उनकी जांघ पर एक मकौड़ा चिपट गया । उसके दांत काफी गहरे तक धंस चुके थे । कुमारपाल को वेदना तो हो रही थी परन्तु अपनी धर्म क्रिया में वे विघ्न नहीं डालना चाहते थे । वेदना को सहते रहे । जब काउसग्ग पूर्ण हुआ तो मकौड़े को चरवले से हटाना चाहा पर मर्कोड़े की जाति, मकौडे के शरीर के दो टुकडे भले ही हो जाएं पर वह जहां अपने दांतों को गाड़ देता है, निकाल नहीं सकता ।

कुमारपाल महाराजा इस रहस्य को जानते थे । इसलिए उन्होंने एक तेज चाकू मंगवाया ओर मकौड़ा जिस भाग में चिपट गया था, उसके चारों ओर से एक-एक इंच दूर तक मकोड़े सहित अपनी जांघ का मांस काट कर अलग कर के रख दिया । ताकि मकोड़े को भरपेट भोजन भी मिलता रहे और वह जीवित भी रहे ।

इस प्रकार आचार्य महाराज के संसर्ग से कुमारपाल के मन में प्राणी मात्र के प्रति दया की भावना ठसोठस भरी हुई थी । वे



चाहते तो मकोड़े को खींच कर दूर फेंक सकते थे परन्तु ऐसा करने से उसके प्राण पंखेरु समाप्त हो जाते, यह निश्चित वे जानते थे । किसी भी प्राणी की जान जाए उनके कारण से, यह उन्हें अभीष्ट न था ।

साधर्मी भक्ति :-

एक दिन आचार्य भगवन का जब पाटण में प्रवेश होनेवाला था । गुरुदेव आदि सब साधु पाटण के बाहर ही ठहरे हुए थे । किसी श्रावक ने उन्हें अपने घर चरण डालने की विनती की । उसकी स्थिति सामान्य थी परन्तु भावना बहुत थी । जब गुरुदेव उसके घर पधारे तब उसने गुरुदेव को आहार-पानी के साथ-साथ अपने हाथ से तैयार की हुई खादी की मोटी सी चादर भी व्होराई । गुरुदेव किसी की भावना को ठेस पहुंचाना नहीं चाहते थे । साथ वाले साधुओं ने गुरुदेव को संकेत सा किया कि इतनी मोटी चादर कौन वापरेगा ? परन्तु गुरुदेव ने श्रावक की भावना देख कर मन में कुछ सोचकर चादर स्वीकार कर ली ।

दूसरे दिन नगर प्रवेश के समय वही चादर ओढ़ कर गुरुदेव चल पड़े । उस समय कुमारपाल के अधीनस्थ राजा भी अपने अपने मन्त्री मण्डल आदि सहित गुरुदेव के नगर- प्रवेश की शोभा बढ़ा रहे थे । जब उनका ध्यान गुरुदेव की उस चादर पर गया, तो सभी आपस में कानाफूसी करने लगे । पाटण में उस समय १८०० करोड़पति थे । खूब ठाठ से- जोर शोर से प्रवेश हो रहा था । जनता की संख्या करना कठिन था । धीरे-धीरे बात बढ़ते बढ़ते श्रेष्ठी लोग, सामान्य जनता भी कानाफूसी करने लगी । किसी की हिम्मत नहीं कि गुरुदेव से या कुमारपाल से कुछ समाधान करे ।

"देखो तो सही, १८ देशों का महाराजा, अपने गुरु का नगर-प्रवेश करा रहा है । इतने बड़े महाराजा के इतने बड़े गुरु और



उनके कंधों पर इस प्रकार की मोटी सी खादी की चादर ।''

इसी प्रकार की बातें जन-जन में हो रही थी । कुमारपाल राजा भी मन ही मन खूब शर्म सी महसूस कर रहा था परन्तु गुरुदेव को सबके बीच में कुछ भी पूछने का साहस न था ।

क्रमशः नगर प्रवेश- उपासरे में प्रवेश और फिर व्याख्यान मण्डप में प्रवेश हो चुका । मांगलिक प्रवचन आदि सभी कार्यक्रम समाप्त हो गया । सभी अपने अपने निवास स्थानों के लिए चले गए । तब कुमारपाल, जो अभी तक मुंह लटका कर उदास सा बैठा हुआ था, गुरुदेव के चरणों में शीश झुका कर बैठ गया । गुरुदेव ने उदासी का कारण पूछा, तो उसने कहा :-

''गुरुदेव ! मैं आपका परम भक्त कहलाता हूं । आपको किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो, कम से कम मुझे सूचित तो कर दिया करें । आपके कंधों पर यह मोटी खादी की चादर देख कर मुझे शर्म आ रही है । आदि''

''कुमारपाल ! शर्म ! तुझे शर्म कहां आती है ? शर्म से तूं कोसों दूर रहता है । तूं अपने वैभव में ही मस्त है । तूने कभी अपने भाइओं की, साधर्मी जनों की खबर ली ? वे क्या करते हैं ? क्या खाते हैं ? कैसे निर्वाह करते हैं ? कभी ध्यान दिया इस बारे ?'' गुरुदेव बोले ।

''गुरुदेव ! मेरी भूल क्षमा कीजिए । आप जैसा चाहेंगे, मै वैसा ही करुंगा । मैं अपने भाइयों की खबर न ले सका । मेरे प्रमाद की मैं माफी चाहता हूं । आदि'' कुमारपाल ने पश्चाताप करते कहा ।

गुरुदेव ने चादर के बारे सारी बात बताई और साधर्मी भाइओं के उत्कर्ष के लिए समझाया व उनकी सहायता के लिए प्रेरणा



दी ।

गुरुदेव से प्रेरणा पा कर कुमारपाल ने चौदह वर्षो में चौदह करोड़ रुपए सहधर्मी भक्ति में खर्च किए ।

कुमारपाल की न्याय-नीति :-

पाटण नगर में एक कुबेरदत्त शेठ था । पुष्कल द्रव्य था । सौ हाथी, पचास हजार घोड़े, पचास हजार गोकुल, एक हजार जवाहर रत्न-हीरे, छः करोड़ सोना मोहर, छः करोड़ चांदी का माल, दो हजार धान्य कोठार आदि, घर में रत्न जड़ित मंदिर था । चन्द्रकान्त मणि की प्रतिमा भी थी । सेठ की माता एवं पत्नी इन तीन का ही परिवार था । सन्तान नहीं थी । सेठ की मृत्यु हो गई । मिलकत सब पड़ी रही ।

कुमारपाल महाराजा नित्य सामायिक, नवकार मन्त्र का जाप, योग शास्त्र का तथा वीतराग स्तोत्र का पाठ करता था, तभी अन्न जल लेता था । जिस दिन सेठ की मौत हुई । उस दिन कुमारपाल जब अपना पूजा-पाठ करके निवृत्त हुआ तो पूजा गृह से बाहर आया । तभी सामने उसे चार व्यापारी मिले । उन्होंने सूचना दी कि कुबेरदत्त शेठ अपुत्रिया मर गया है, उसका धन राज्यकोष में ग्रहण कर लो । राजा ने कहा :- मैं उसके घर जाऊंगा, फिर आगे कहूंगा ।

महाजन विदा हो गए । थोड़ी देर बाद राजा, मन्त्री को साथ लेकर सेठ के घर गया । वहां परिग्रह का सूचक पुष्कल धन, रत्नजडित मन्दिर देखा ।

दूसरी तरफ सेठ की विधवा माता व पत्नी का छाती कूट कूट कर रोना देखा । वे दोनों चीत्कार कर रहीं थीं कि सेठ भी गया और धन भी राजा ले जाएगा । हमारा निर्वाह कैसे होगा ? हमारा



आधार कौन ? इत्यादि । यह सब देख कर राजा का मन भी भर आया । वह सोचने लगा :-

"मुझे ऐसा धन नहीं चाहिए । एक तो पुत्र नहीं फिर धन भी मैं ले जाऊं तो स्त्री की क्या दशा होगी ? स्त्री का धन लेना यह समस्त नारी जाति का अपमान है । सभ्यता का कलंक है । कहा भी है :-

"अनाज का व्यापारी दुष्काल को, कुलटा स्त्री पति- मरण को, वैद्य, धनिकों में रोगोत्पात को, नारद झगड़े कलह को, दुर्जन पर के छिद्र को, राजा, धनिक निःसन्तान की मृत्यु को इच्छता है ।"

यह सब अनिष्ट है, दुष्टता है, अन्याय है । मै ऐसा धन नहीं चाहता । आज तक के राजा ऐसा करते आए होंगे । मैं इस कानून को रद्द करुंगा ।"

इस प्रकार विचार करके कुमारपाल महाराजा ने उसी समय यह कानूनी क्रान्ति की । इस धन को तुच्छ नीति समझा । लगभग ७२ लाख की इस प्रकार की वार्षिक आय का पट्टा, जिस पर इस प्रकार की आवक (आय) बारे लिखा हुआ था, वह पट्टा पानी में डाल दिया ।

नारी को पुरुष समान अधिकारी मान कर पति का धन स्त्री को मिले, यह कानून बनाया । भारतीय संस्कृति में स्त्री के, समान अधिकार का प्रथम कानून उसी समय बना ।

इस कानून के बनने से गुजरात में अपुत्रीय का पुत्र, गोद में लेने का रिवाज़ भी बन्द हो गया ।

अपना अन्तिम समय समीप जान कर कुमारपाल ने अपने पुत्र अजयपाल को राज्य के योग्य न समझ कर, अपने भानजे प्रतापमल को राज्यगद्दी पर बिठाने का विचार किया ।



इस बात का रहस्य जब अजय पाल को मालूम हुआ तो उसे अपने पिता महाराजा कुमारपाल पर द्वेष हो गया । अब वह पिता को मारने का उपाय सोचने लगा अवसर की ताक में रहने लगा ।

एक बार कुमारपाल को बुखार आ गया । बहुत उपचार करने पर भी ज्वर उतरा नहीं । अवसर देख कर एक दिन अजयपाल ने उपचार करने के बहाने दूध में विष मिला कर कुमारपाल को पिला दिया । कुमारपाल को कुछ ही क्षणों में इस षडयन्त्र की समझ आ गई । उसने तिजोरी में से जहर को दूर करने वाली मणि मंगवाई । परन्तु वह तो अजयपाल ने पहले ही वहां से निकाल ली थी, वह न मिली । कुमारपाल ने समता रखना ही उचित समझा । उसने समस्त जीवराशि को खमाया और कुछ ही मिनिटों में उनका देहान्त हो गया ।

मृत्यु पश्चात वह व्यंतर निकाय में देव रुप में उत्पन्न हुआ । वहां आयु पूरी होने पर भद्दिलपुर नगर में शतबल नामक राजा होगा । फिर पद्मनाभ तीर्थंकर के अग्यारवें गणधर बन कर मोक्ष में जाएगा ।

कुमारपाल राजा का जन्म--- विक्रम सम्वत-११४९

राज्य प्रप्ति----११९९

बारह व्रतधारण---१२१६

स्वर्गवास---१२३०

नए जिन मन्दिर बनवाए---१५५०

जिनालयों का जीर्णोद्धार---१६००

बडे संघ निकाले ---सात



हर वर्ष साधर्मी भक्ति में खर्च किए-करोड़ रुपिए ।
साधर्मी भाइयों का कर माफ किया-७२ लाख रूपिया ।
अपुत्रियों का धन लेना छोडा -७२ लाख रूपिया ।
उचित दान में दिया-९८ लाख रूपिया ।

क्रोध क्षणजीवी होता है,
क्रोध के पल अल्पजीवी होते है,
और नुकशान चिरंजीवी होता है ।

ईर्ष्या से प्रेरित मनुष्य एकदम असत्य आरोप लगा देता है । सामने वाले का अपमान करने में वह अपनी एड़ी- चोटी का पूरा जोर लगा देता है ।



" यशा ! क्या कर रहे हो बेटा ! भोजन तैयार है, खाना खा लो । "

" क्यों मां ! आपको नहीं खाना । "

" नहीं बेटा, तू खा ले । मुझे भूख नहीं है । "

" मां, मैं तीन दिन से देख रहा हूं आप बिल्कुल कुछ नहीं लेतीं । मैंने पानी पीते भी नहीं देखा । बात क्या है, मां ? "

कुछ नहीं बेटा, तू खाना खा ले, फिर बताउंगी ।"

" नहीं, आज मैं भी नहीं खाउंगा । पहले मुझे कारण बताओ । क्यों तीन दिन से अन्न जल का त्याग कर रखा है ? तीन दिन तो मैंने आपके कहे अनुसार भोजन कर लिया पर आज नहीं करुंगा । आप खाओगी तभी खाऊंगा ।"

" बेटा, जिद नहीं करते । तू अभी छोटा है, समझेगा नहीं ।"

" मां, कुछ कहो-कुछ समझाओ तो समझूं ।"

बालहठ के आगे मां को हारना पड़ा, बोली :-

" यशा ! मैंने प्रतिज्ञा ले रखी है कि जब तक भक्तामर का पाठ न सुनूं तब तक मुंह में पानी तक भी नहीं डालना ।"

" अरे मां ! बस इतनी सी बात ! आपने पहले क्यों नहीं बताया ? यह पाठ तो मुझे भी आता है । तीन-तीन दिन भूख-प्यास सहन की । चलो-आओ, बैठो इधर । मैं आपको भक्तामर सुना देता हूं ।"

" क्या कह रहा है तूं ? मेरी भक्तामर पाठ सुनने की प्रतिज्ञा है-भक्तामर स्तोत्र ।"



" हां मां, मैं पूरा भक्तामर का ही पाठ सुनाऊंगा ।"

" अरे यशा ! तुझे भक्तामर का पाठ आता है ? कब सीखा तूने, किससे सीखा ?"

" मां, अपने गांव के बाहर जो महान तत्वज्ञानी मुनि श्री नयविजय जी म. चातुर्मास के लिए विराजित हैं, जिनके पास आप नित्य-प्रातःवेला में युगादि-देवकी अपूर्व स्तुति,भक्तामर स्तोत्र सुनने जाती हो, आपको याद होगा, एक दिन मैं भी आपके साथ भक्तामर श्रवण के समय गया था । तब सुनते-सुनते ही मुझे सारा पाठ याद हो गया ।"

(मां आश्चर्य से) "अच्छा, बोल तो ।"

यशा ने पाठ सुनाया-तब मां ने चौथे दिन पारणा किया ।

रिमझिम- रिमझिम-वर्षा ऋतु अपना रंग दिखा रही थी । चैमासे का Season था । तभी यह घटना घटी ।

यह घटना है महामहोपाध्याय यशोविजय जी म० के जीवन की । उस समय उनकी आयु केवल सात वर्ष की थी । उपाध्याय यशोविजय जी म० का जन्म गुजरात देश के एक गांव में, ओसवाल जैन परिवार में सम्वत १६६५ में हुआ था । पिता का साया बचपन में ही उठ गया । माता माणेक बाई धार्मिक विचारों की, सदाचारी, संस्कारी व श्रद्धालु नारी थी । इनका नाम यशवंत रखा था । लाड से यशा-यशा कहते थे ।

एक बार नयविजय जी म० चातुर्मासार्थ इनके गांव के बाहरी स्थान में ठहरे हुए थे । प्रतिदिन लोग धर्मोपदेश का पीयूष पीने वहां जाते । प्रातः वेला में नित्य भक्तामर का पाठ होता ।

एक दिन माता माणेक बाई ने गुरु महाराज से प्रतिज्ञा ली कि भक्तामर का पाठ सुने बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करना । सहज



रीति से प्रतिज्ञा पालन करते दिन बीत रहे थे । एक दिन परीक्षा की घड़ी आ ही गई ।

कहा जाता है कि जो भी प्रतिज्ञा लेता है । एक न एक दिन उसकी कसौटी अवश्य होती है ।

एक दिन उस माता की परीक्षा होनी ही थी ।

अनवरत मूसलाधार बरसात.....

चारों ओर पानी ही पानी.....

आने जाने के मार्ग बन्द हो गए ।

अब मां जाए कैसे ? अतः प्रतिज्ञा पालन हेतु अन्न जल का त्याग कर दिया । तीन-तीन दिन व्यतीत हो गए । वर्षा बन्द न हुई । अतः उपरोक्त वार्तालाप के पश्चात् भक्तामर सुन कर चौथे दिन पारणा किया । माता वृद्ध थी । शरीर शिथिल होना स्वाभाविक था ।

सात दिन बाद वर्षा बन्द हुई- मार्ग खुले, तब माता उपासरे में गई । वन्दन किया, गुरुदेव को सुख शाता पूछा । गुरुदेव को भी ध्यान था प्रतिज्ञा का । अतः पूछा :----

"आपको भक्तामर पाठ सुने बिना अन्न-जल ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा का पालन करने में काफी कठिनाई महसूस हुई होगी । इतनी अवस्था में सात-सात दिन उपवास करने का शारीरिक कष्ट- अति महसूस हुआ होगा ।"

माता ने जब सब बात बताई तो गुरु महराज को अति आश्चर्य हुआ कि सात वर्ष का छोटा बालक, जो अक्षरीय ज्ञान से भी अनभिज्ञ है, उसने ४४ गाथा का यह स्तोत्र कैसे सुनाया होगा ? उन्होंने यशा को बुलवाया- पाठ सुना तो शुद्ध- स्पष्ट उच्चारण से तथा अन्य भी धर्म सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर निर्भीकतापूर्वक सुनाने से, उस



बालक यशा की अद्‌भुत स्मरण-शक्ति से आश्चर्यमुग्ध व आनन्द विभोर हो उठे ।

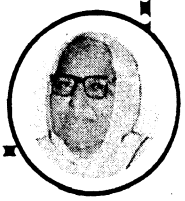
यशा को प्यार से अपने पास बिठाया । उसकी आकृति व भाग्य रेखा आदि शारीरिक, श्रेष्ठ लक्षणों को देख, गुरुदेव के हृदय में अपूर्व विचार स्फुरित हुए । उज्जवल भावि देख तथा भविष्य में जिन शासन का महान प्रभावक व उद्धारक बनेगा, ऐसा सोच कर मां बेटे को घर भेज दिया ।

दोपहर को श्री संघ के आगेवानों को बुलाया- सब बात की और अन्त में बच्चे की मांगनी करने को समझाया ।

संघ के मुखिया गए माणेक बाई के घर । माता से पुत्र की याचना की । विधवा और वृद्ध माता अपने जीवनाधार, प्राणप्रिय, एकलौते पुत्र को देने में उदार बने, यह अति दुष्कर बात थी । तथापि जिसका हृदय धर्मप्रेम- धर्मभावना देव-गुरु की भक्ति-श्रद्धा से युक्त हो, ऐसी सुदृढ़ पुण्यात्मा धर्म के लिए, शासन के लिए, तीन भुवन की समृद्धि- वैभव, तृणवत् समझती हो, वहां पुत्र की महत्ता कहां रहती है ?

माता ने संघ को हाथ जोड़, सिर झुका कर, नम्रभाव से बताया "विश्ववन्दनीय श्री संघ की रक्षा हेतु या शासन की उन्नति हेतु की गई पवित्र मांग को सहर्ष स्वीकार कर अपने पुत्र को मैं अपने हार्दिक आशीर्वाद सहित गुरु जी के पुनीत चरणों में समर्पण कर, अपने जीवन को कृतार्थ मानती हूं, सार्थक करती हूं ।"

ऐसा कह कर यशा को बुलाया, उसका सिर चूमा और संघ को समर्पित कर दिया । संघ ने बालक को गुरु चरणों में समर्पण किया । गुरुजी ने उसे दीक्षित करके जैन-जैनेतर ग्रन्थों का अभ्यास कराया । तीन वर्ष में तो बालक यशा से यशोविजय बने मुनि, व्याकरण- साहित्य- न्याय आदि में निष्णात् बन गए । फिर भी



विद्याभ्यास की तीव्र उत्कण्ठा, तीक्ष्ण बुद्धि की प्रबलता और उत्साही यौवन का उन्माद शान्त न हुआ क्योंकि दुनियां में अद्वितीय पण्डित बनने की मन में तमन्ना थी ।

उन दिनों षट् दर्शन के अभ्यास में प्रवीणता प्राप्ति हेतु, अद्वितीय स्थान काशी था । दीक्षा लेकर ४२ वर्ष तक खूब अध्ययन किया फिर भी अतृप्त दिल, दर्शनशास्त्र में पारगामी बनने के लिए, बनारस (काशी) जाने को उत्कंठित बना । गुरु से काशी जाने की आज्ञा मांगी ।

देश काल के जानकार, समयज्ञ और समर्थ गुरु नय विजय जी म० को अन्यतर अभ्यास की आन्तरिक उत्कण्ठा वाले, अधैर्यशाली यशोवि० जी को ५२ वर्ष की वय में काशी जैसे विकट स्थान में अकेला भेजने में गुरु के दयालु हृदय को इलैक्ट्रिक करंट की भान्ति धक्का लगना स्वाभाविक था ।

उस समय अर्थात १६-१७वीं शती में आध्यात्मिकवाद लुप्तप्रायः होने से धर्म के बदले धर्मांधता, धर्म-द्वेष, असहिष्णुता, कदाग्रह आदि दोषों से रुढिवादी वा सम्प्रदायवाद इतना व्यापक बन चुका था कि धर्म के नाम पर धर्मद्रोह या धर्मद्वेष का बोलबाला था । अतः गुरु नय वि० जी का मन मानता नहीं था ।

तथापि विद्याव्यसनी यशो वि० जी म० ने कैसे भी करके गुरु की आज्ञा प्राप्त की । ५२ वर्ष की आयु में, अपने चाचा गुरु, पू० विनय विजय जी म० को साथ लेकर ब्राह्मण वेष में काशी में पढ़ने गए ।

दोनों महात्मा प्रखर, असाधारण पण्डित थे । ब्राह्मण गुरु के पास रह कर विनय- नम्रता- प्रेम- सेवा से १२ वर्ष में अद्वितीय पण्डित बन गए । जन्मदाता पू.माता-पिता के प्रति जैसी प्रीति-भक्ति-सद्भावना होती है वैसी भक्ति से गुरु एवं गुरुपत्नी की शुश्रूषा



की ।

"विनयात् विद्या जायते ।"

विनय से विद्या की प्राप्ति होती है । अडिग श्रद्धा-अनन्य भक्ति-भाव से गुरु के पास से व्याकरण- साहित्य- न्यायशास्त्र की सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त कर षट्दर्शन के पारगामी बने । फिर भी यशोविजय जी का मन अतृप्त था । वे जान गए थे कि गुरु के पास योग की अद्भुत शक्ति मिश्रित-दिव्य प्रभावक एक मन्त्रशास्त्र १२०० श्लोक प्रमाण अपूर्व ग्रन्थ था । अतः इसके पढ़ने की विधि रहस्य गुरुगम से जान कर, अद्भुत चमत्कारों से दुनियां को मोहमुग्ध बना कर महाप्रभावक बनने की अति तमन्ना थी ।

(शार्दूल विक्रीडित) इस ग्रन्थ की गुरु के पास याचना की । तब खुले मन से गुरु ने उत्तर दिया :-

"तुमने जैसे पूज्य पिता की भान्ति स्नेह-सम्मान पूज्य भाव पूर्वक व्यवहार किया है वैसे ही मैंने और मेरी पत्नी ने तुम्हें सगी सन्तान की तरह रख कर वात्सल्यभाव से विद्याभ्यास कराया है । अपना अद्भुत ज्ञान तुम्हें योग्य पात्र जान कर तुम्हारे में जागृत किया है । जिससे इस ग्रन्थ को पढ़ने की यत् किंचित भी मनाही नहीं है- किन्तु मैं अद्वितीय विद्वान हूं फिर भी मान युक्त हूं । आधुनिक युग के भारत में इस अद्भुत ग्रन्थ के ज्ञान के कारण ही मैं भारतीय ब्राह्मण पण्डित वर्ग में प्रथम नम्बर पर हूं । इस दिव्य ग्रन्थ के पढ़ाने से तुम्हारा नम्बर प्रथम हो जाएगा । मैं जानता हूं कि शिष्य से गुरु का पराभव हो, तो उससे गुरु के मान को कुछ भी क्षति नहीं पहुंचती, अपितु गौरव बढता है । इतना जानने पर भी मैं प्रथम नम्बर का मोह, गौण करना नहीं चाहता । अतः यह ग्रन्थ दबाकर रखा है ।"

यशोविजय जी महान विचारक थे । जानते थे कि गुरु कृपा



बिना का ज्ञान, जीवन विकासक नहीं, जीवन विनाशक बनता है । परन्तु ग्रन्थ पढ़ने की लालसा भी उनकी छूट नहीं रही थी ।

यशोविजय जी अपने ब्राह्मण-गुरु के पास से अद्‌भुत-महान ग्रंथ की मांग कर रहे थे पर गुरु की इच्छा, वह ग्रन्थ अपने तक ही सीमित रखने की थी । यशोविजय जी ग्रन्थ प्राप्ति का उपाय सोचते रहते थे ।

इसी बीच.....

एक दिन विद्यालय में ५०० पण्डितों की परीक्षा हुई । शर्त यह रखी कि जो प्रथम नम्बर आए उसे गुरु जी की कन्या दी जाएगी । यशोविजय जी प्रथम उत्तीर्ण हुए । अब कन्या देने की, विवाह की, योजनाएं बनने लगीं । विनयविजय जी और यशोविजय जी ने विचार किया :-

"हम तो जैन साधु हैं, जैन दीक्षा ली हुई है । ब्रह्मचारी हैं । हमने तो विद्याभ्यास के लिए ही वेष परिवर्तन किया है । यहां पर गुरु की सेवा - शुश्रुषा सब, विद्या प्राप्ति हेतु की है, किन्तु अब यदि विवाह के बन्धन में बंध गए तो संयम पालना दुष्कर हो जाएगा । हमारा लक्ष छूट जाएगा ।"

सायंकाल गुरु से मिले- हृदय खोल कर सब बात की । गुरु को आश्चर्य भी हुआ, आनंद भी । क्योंकि जैन दीक्षा लेकर भी पढ़ने की लालसा से वेष परिवर्तन कर शिष्यत्व स्वीकारा था ।

वैसे भी गुरु जी इन पर वात्सल्यभाव रखते थे, बोले :-

"अब तक तुम कैसे भी रहे- गुप्त ही रहे हो । मैं भी तुम्हारे रहस्य को आज ही जान पाया हूं । मैं कन्या के कारण तुम्हारा जीवन भ्रष्ट नहीं करना चाहता । कन्या तो अन्य ब्राह्मण को भी दी जा सकती है परन्तु प्रश्न तो अब तुम्हारे जीवन का बन



गया । अब शादी की बात चल रही है तो तुम गुप्त कैसे रहोगे ? तुम्हारा भेद यदि प्रगट हो गया तो तुम्हारा जीना दूभर हो जाएगा । अतः तुम शीघ्र पलायन कर जाओ । भाग कर अपनी धर्मरक्षा व प्राणरक्षा कर सकते हो ।''

अगले दिन सुबह अचानक गुरुजी को विशेष कार्य से दूसरे गांव जाना पड़ा । यशा ने इस विकट परिस्थिति में भी गुरु की अनुपस्थिति से लाभ उठाना चाहा । वे गुरुपत्नी के पास गए, प्रणाम किया तथा स्वाभाविक नम्रता सहित ग्रन्थ की मांग की । माता ने पूछा :-

''१२ वर्ष के दीर्घ काल में, कभी किसी भी वस्तु की मेरे से मांग नहीं की, फिर आज क्यों ? गुरु जी से क्यों नहीं मांगा?''

यह सुन सरलहृदयी विनीत जशा ने सब बात कही । तब आर्य धर्म की संस्कृति से सिंचित हृदय वाली पतिव्रता सती बोली :-

''जिस ग्रन्थ की मेरे पतिदेव ने मनाही की है, उसी को मैं, उनकी अनुपस्थिति में, उनकी अनिच्छा से, उनकी आज्ञा विना आपको दूं तो मेरे पतिव्रत धर्म को हानि पहुंचती है ।''

गुरुपत्नी की परिस्थिति जान व उत्तर सुन कर जशा का चेहरा थोड़ा उतर गया । तब गुरुपत्नी ने उनकी भावना जान मन में विचारा और बोली :-

''सगे पुत्रों से भी अधिक, आपकी सेवा- भक्ति से रंजित बनी हुई मैं अपने पतिप्रेम- पतिधर्म को गौण रख कर १२ घण्टे के लिए आपको ग्रन्थ दे सकती हूं । १२ घण्टे बाद वापिस देने की शर्त स्वीकार हो तो ग्रन्थ मैं आपको लाकर दूं ? आपका उतरा चेहरा मुझे व्यथित कर रहा है ।''

''अहो, काशी जैसे विकट स्थान पर १२-१२ वर्ष तक रह कर अथक परिश्रम करके प्रतिकूल संयोगो में भी रहते हुए, अनेक कष्टों



को सह कर विद्याभ्यास करने के लिए किया गया श्रम आज सफल हुआ, जीवन कृतार्थ बना ।''

गुरुपत्नी को नमस्कार कर, उनकी शर्तों की स्वीकृति दे, हर्ष से पुलकित हो, शतशः आभार मानते हुए ग्रन्थ ग्रहण किया ।

यशा (यशवन्त राय) ने अपने चाचा गुरु, विनय वि० (विनोद राय) को कहा :-

''चाचा जी ! १२०० श्लोक प्रमाण (९६ अक्षर का एक श्लोक) वाला यह ग्रन्थ बारह घण्टे में याद करना अशक्य है । यदि आप थोड़ी सहायता करो तो काम पार हो सकता है ।''

यह सुन कर ७२ वर्ष के विनोदराय बोले :-

''उत्साही यशा ! ७२ वर्ष की आयु में ऐसे कठिन ग्रन्थ को याद करने की कितनी सहायता दी जा सकती है ? तूं स्वयं ही समझ । यह घड़ा पक चुका है फिर भी तीव्र जिज्ञासा है इस ग्रन्थ को याद करने की, तो मैं यथासंभव परिश्रम करके १२ घण्टे में ५०० श्लोक जरुर कंठाग्र कर सकूंगा ।''

यह सुन हर्षित हुआ यशा बोला :-

''चाचा ! आप ५०० श्लोक याद करने की शक्ति बताते हो तो मेरे लिए ७०० श्लोक याद करना सोपारी के टुकडे को चबाने बराबर है । मुझे तो लगता था कि तनतोड मेहनत करुं तो १००० श्लोक से अधिक न कर पाता । दो सौ श्लोक रह ही जाते । किनारे आकर भी नौका पार न कर पाता- डूब जाती । मेरी सारी मेहनत व्यर्थ चली जाती । अब आपकी कृपा से कार्य सफल ही समझो ।''

तत्पश्चात् अनन्त कृपालु पार्श्वनाथ प्रभु को याद कर, चउविहार उपवास का संकल्प कर, मन की दृढ़ता- एकाग्रता- स्थिरता से बैठ कर पूर्वार्ध के सात सौ श्लोक जशा जी ने और उत्तरार्ध के ५००



विनोदराय जी ने याद कर लिए । १२ घन्टे बाद जब संध्या समय माता जी को पुस्तक वापिस देने गए शर्त अनुसार, तो पता चला कि गुरु जी कल सुबह आएंगे । तब पुनः १२ घन्टे के लिए पुस्तक मांग कर जशा जी ने १२००, चाचा जी ने १००० श्लोक याद कर लिए । इच्छित कार्य सिद्ध होने से आनन्द का पार न था ।

सुबह माता जी के चरणों में प्रणाम कर सादर ग्रन्थ अर्पण किया । जिज्ञासा की प्रबलता, उत्साह की अतिरेकता से ग्रन्थ तो याद कर लिया किन्तु विचार आया कि गुरु कृपा विना, गुरु के चित्त की प्रसन्नता के बिना, विद्या की सार्थकता नहीं । चालाकी से गुरु की अनुपस्थिति में, गुरु आज्ञा विना ग्रन्थ लिया, यह महान अपराध है । जब तक प्रसन्न चित्त से गुरु जी अपराध की क्षमा न दें तब तक के लिए अन्न-जल का त्याग करने का संकल्प किया ।

गुरु जी आए.... ज्यों ही आसन पर बिराजमान हुए कि बच्चों की भान्ति फूट-फूट कर रोते हुए गुरु चरणों में प्रणाम किया । बोले :-

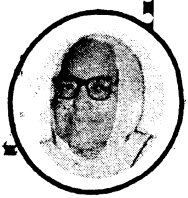
"हमारा रक्षण करो । हमारे अपराध क्षमा करो ।"

गुरु जी प्रिय पुत्रों का आक्रन्दन देख आश्चर्य से पूछने लगे :-

"क्या हुआ ? बारह वर्ष में मैं आज प्रथम बार ही तुम्हारी जैसी स्नेही संतान को छोड़ कर एक दिन के लिए ही गया, तो क्या वियोग सहन नहीं हुआ ? इतना रो रहे हो । (आलिंगन में ले-प्यार करते) अथवा मेरी अनुपस्थिति में किसी ने अपमान किया । बारह वर्ष में कभी भी तुम लोगों को जरा सा भी दिलगीर नहीं देखा । फिर आज इतने उदास क्यों ?"

तब आंसू पोंछते हुए गुरु चरणों में प्रणाम कर बोले :-

"गुरु जी ! हमने आपके दो महान अपराध किए हैं । यदि



आप क्षमासागर बने हुए उदारता और प्रसन्नता से कृपा बरसाते हुए हमारे अपराधों को क्षमा कर दो । हृदय से आन्तरिक आशीष दो कि हमारी सर्व विद्या तथा हमारा जीवन सार्थक बने । अन्यथा हमें शाप दे दो - जिससे हमारी सर्व विद्या-शक्तियां भस्मीभूत हो जाएं । ताकि हमें हमारे अपराध का दण्ड मिले और प्रायश्चित से जीवन शुद्ध बने ।''

गुरु जी ने कहा - ''स्पष्ट बोलो क्या बात है ? मैं समझा नहीं ।''

तब बोले :-

''हमने आपका धर्मद्रोह किया है । हम जैन दर्शनोपासक साधु हैं । भारत में आपकी विद्या की ज्वलंत कीर्ति सुनकर आपके पास, वेष परिवर्तन कर, जाति धर्म छुपा कर, दर्शन शास्त्र का अभ्यास करने आए, यह हमारा धर्मद्रोह रुपी अपराध ही तो है । कल ही हमने आपसे बात की थी ।

दूसरा अपराध - हमने गुरुद्रोह भी किया है । आप की अनुपस्थिति में हमने माताजी से, वह मन्त्र-शास्त्र का अद्‌भुत ग्रन्थ, जिसको देने का आपने निषेध किया था, मांगा । वात्सल्य के आधीन बनकर माताजी ने हमें दिया । आपकी कृपा से २४ घन्टे में कण्ठस्थ हो गया ।''

इतना कहते कहते पुनः अश्रुपूर्ण नेत्रों से गुरु जी के चरण पकड़ लिए । निडरता - निखालिसता व सरलता से भरे हृदय को देख गुरु जी ने दोनों को खुशी के आवेग में, चरणों से उठा कर स्नेहपाश में बांध लिया ।

कुछ क्षण बाद बोले :-

''तुम्हारे जैसे स्नेही, नम्र - विनयी अदभुत स्मरण शक्ति वालों को शाप देकर भारत में से विद्या का विनाश करने का घोर पाप



करने की अपेक्षा तुम्हारी विद्या और तुम्हारा जीवन, उभय, आदर्श बनकर सार्थक हो - ऐसा, असीम प्रेम से, हृदय से आशीर्वाद देते हुए स्वयं को परम भाग्यशाली मानता हूं । किन्तु अतुल स्नेह से आबद्ध हुआ मेरा हृदय तुम्हारी भावि दुर्दशा को देखने में समर्थ नहीं है । यहां के पण्डितवर्ग को यदि पता चल गया कि मैने वेद-विद्रोही जैन साधुओं को पढ़ाया हैं तो धर्मद्रोह की असह्य आग की प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रज्वलित हुए ब्राह्मण मुझे और तुम्हें जलाकर खाक कर देंगें । संहार करने में कटिबद्ध रहेंगें । अतः इस बात के प्रगट होने से पूर्व ही यहां से भाग जाओ । इसी में तुम्हारा और मेंरा कल्याण है ।''

गुरु कृपा से कृतार्थ हो, दोनों गुरु - चरणों का स्पर्श कर, मस्तक पर चरण-रज चढ़ा कर गुरु और गुरुपत्नी को अगणित वन्दन कर प्रार्थना की :-

''हम धनाढय एवं धर्मप्रेमी जैन समाज के अग्रगण्य गुरु हैं । अतः कभी भी, हमारे योग्य, किसी भी समय सेवा हो, तो सेवक समझ याद करना । हमारे से बने उतनी सेवा कर, जीवन कृतार्थ करेंगे ।''

अश्रुपूरित नेत्रों से गुरु से विदा ले, लम्बे लम्बे विहार कर, वेष परिवर्तन कर, साधु वेष में गुरु नयविजय जी की निश्रा में गुजरात पहुंच गए । काशी के विद्वानों की सभा में यशोविजय जी म० को महामहोपाध्याय की (Degree) मानद पदवी दी गई थी ।

शब्द विधा की विशालता, बुद्धि की प्रबलता, तर्क शक्ति की अजबता, वक्तृत्व कला की वाचालता आदि अनेक बाह्य शक्तिओं के प्रभाव से गर्विष्ठ बन कर अहंकार की गहरी खाई में मानो गिर गए । किसी भी समर्थ विद्वान का कहीं भी समाचार मिले, तो उसे वाद-विवाद में परास्त करके ही इन्हें शांति प्राप्त होती । तब



तक इनका हृदय खिचड़ी पकने की भान्ति खदबद करता ही रहता । उसे हरा कर ही अहंकार का आवेश कम होता ।

अपने शिष्य की अजब शक्ति से गुरु नय वि० म० भी मन्त्र मुग्ध थे । कई बार वे विचार करते ऐसा यह प्रखर पण्डित पुरुष यदि तत्वज्ञानी बने तो अनेक जीवों को परमार्थ (मोक्ष) मार्ग का प्रेरक बन सकता है । आत्म- ज्ञान बिना, सम्यग् ज्ञान बिना मात्र शब्द ज्ञान- बोलने की छटा निरर्थक है । इसकी शब्द जाल में आकर्षण है । अतः लोगों को सच्ची राह दिखा सकता है । ऐसा विचार कर तत्कालीन जो - जो भी तत्वज्ञानी महात्मा थे, उन उन का नाम लेकर गुरु महाराज उन से मिलने व उन जैसा जीवन जीने की बात प्रसंग प्रसंग पर कहते रहते । तब यशोविजय जी म० "ले, इसमें है क्या ?" ऐसा कह कर व्यंग्यपूर्वक हंस कर बात गंवा देते । भाग्ययोग से एक बार महान तत्वज्ञानी महात्मा आनंदघन जी की बात निकली । तब उपाध्याय यशोविजय जी म० ने अति स्नेह और सन्मान पूर्वक बताया कि "इस महापुरुष को अवश्य मिलूंगा । "

क्योंकि आनन्दघन जी म० पूर्व जन्म में उपाध्याय जी के मामा थे । भविष्य में उन्हीं के पास से सम्यग् ज्ञान प्राप्त होना था । अतः अव्यक्त रूप से भी स्वयमेव उनकी ओर आकर्षण एवं पूज्य भाव जागा ।

सम्वत् १७३९ का चातुर्मास उपाध्याय यशोविजय जी म० का चाणस्मा में था । उसी वर्ष का चार्तुमास महान योगी आनन्द घन जी म० का पाटण शहर में था । वहां रीति-रिवाज अनुसार जब तक नगर सेठ उपासरे में न आए तब तक चाहे व्याख्यान सभा ठसोठस भर जाए तो भी गुरु महाराज को प्रतीक्षा करनी पड़ती । व्याख्यान प्रारम्भ न होता ।



आनन्दघन जी तो प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक वादी थे। समाज की पराधीनता एवं रुढ़ि बंधनों से मुक्त थे। कुछ दिन तो ठीक तरह से सब चलता रहा।

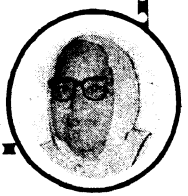
एक दिन पाट पर आकर बैठ गए थे। सभा भर गई थी किन्तु सेठ नहीं आए थे। आनन्दघन जी ने प्रत (शास्त्र के पन्ने) हाथ में ली और वांचना शुरु कर दिया। तब श्रावकों ने निषेध किया कि अभी सेठ जी आए नहीं, अतः व्यारव्यान प्रारम्भ नहीं करना। थोड़ी देर प्रतीक्षा करें।"

ये तो अवधूत योगी थे, समझे कि शायद कोई धर्मप्रेमी-मुमुक्षु आत्मा होगी अतः प्रतीक्षा की। नगर सेठ तभी तक भी आया नहीं। तब इस मस्त योगी ने किसी की भी परवाह न करते हुए प्रत पकड़ कर मंगलाचरण आरंभ किया तो सेठ के चमचे, सेठ की सत्ता से मोहित कितने ही अग्रेसर कानाफूसी करने लग गए कि महाराज तो अभिमानी हैं-स्वच्छन्दी हैं-व्यवहारकुशल नहीं है। नगर सेठ की भी दाक्षिण्यता नहीं रखते। अतः ऐसे महाराज का हमें भी व्यारव्यान नहीं सुनना। ऐसे महाराज के व्यारव्यान में बैठना भी उचित नहीं। ऐसा बड़ बड़ करते हुए उठ खड़े हुए और महाराज के हाथ से प्रत (पन्ने) छीन कर चलते बने।

" करना फकीरी-क्या दिलगीरी, सदा मगन में रहना।"

इस प्रकार की मस्ती के आनन्द को मानने वाले आनन्द घन जी म० ने बिना प्रत के, बिना पन्नों के ही, नगरसेठ की राह देखे बिना, व्यारव्यान प्रारम्भ कर दिया।

उधर "मेरे आए बिना व्यारव्यान आरम्भ नहीं हो सकता," निर्श्चितपणे से ऐसा मानने वाला सेठ, अपनी सज धज के साथ, आराम से उपासरे जाने के लिए घर से निकला। मार्ग में वे, उसके चमचे मिले। अग्रेसरों ने बढ़ा चढ़ा कर सब बात की। सुनते ही,



सत्ता के मद में मदोन्मत्त बना सेठ, अग्नि में घी डालने से यथा भड़का होता है, वैसे ही गुस्से से आग-बबूला होकर तुरंत वापिस मुड़ा । घर जाकर संघ को इकट्ठा किया । "नगरसेठ का अपमान करने वाले ऐसे अभिमानी साधु को सीधा करके छोडेंगें ।" ऐसा विचार कर संघ ने प्रस्ताव पास किया :-

"अध्यात्मवाद के नाद में मस्त ऐसे आनन्दघन जी के व्याख्यान में जो कोई भी श्रावक-श्राविका जाए या उन्हें आहार-पानी दे, तो उसे संघ बाहर कर दिया जाएगा ।"

इस प्रस्ताव से पता चलता है कि उस समय सत्ता के मद में अन्धे बने सेठ, संघ जैसी पावन शक्ति का कैसे दुरुपयोग करते थे ।

तत्पश्चात् संघ की अप्रीति देख वहां से विहार कर आनन्द घन जी म० अपने गुरु के पास पहुंचे । अपना ओघा और मुंहपत्ति गुरु चरणों में रखते हुए बोले :-

" समाज के अनुचित बंधनों में रहना और रुढ़िवाद के पराधीन पणे में रहना यह तो तद्दन गुलामी का जीवन है । ऐसा पामर जीवन मैं नहीं जी सकता । हमने क्या लोगों की गुलामी के लिए साधु वेष पहना है, घर बार छोड़ा है ? आप इस बाह्य वेष को सम्भालो, मैं तो यह चला ।"

ऐसा कहते हुए दिगम्बर बन,उपाश्रय से बाहर जाने लगे तो किसी श्रद्धालु विवेकी श्रावक ने सोचा :-

" इस प्रकार गांव में नग्न हो कर जाने से शासन की अवहेलना होगी ।"

यों सोच कर उसके कंधे पर जो खेस था, उसे फाड़ कर आनन्द घन जी के गले में डाल, कफनी बना कर लपेट दिया । वे अवधूत योगी जंगल में चले गए । बाद में पाटन के जंगलों में किसी भक्त



आत्मा की झोंपड़ी में रहने लगे । जीवन पर्यन्त वह विवेकी श्रावक कफनी बना कर देता रहा ।

उपाध्याय यशोविजय जी म० जब-जब भी व्याख्यान-पाट पर बैठते लोगों को आकर्षित एवं रंजित करने के लिए ही अपनी शक्ति का संकेत रुप ठवणी पर पांच-पांच ध्वजा रखते थे ।

एक बार एक बहन वंदनार्थ आई ! वंदना कर पूछाः- "एक प्रश्न पूछना है ?" उपाध्याय जी बोले :- " पूछ ।" तब बोली :- "गौतम स्वामी जी कितने विद्वान थे ?"

" बहुत विद्वान थे । इसमें शंका की बात ही नहीं । महा विद्वान होकर भी हम तो उनके सामने एक बिन्दुवत् भी नहीं हैं ।"

" महाराज ! तो वे व्याख्यान करते, तब अपने आगे कितनी ध्वजा रखते थे ?"

इस प्रश्न ने उपाध्याय की आत्मा को झकझोर दिया । कुछ क्षण रुक कर नम्र वाणी से बोले :-

" बहन ! तुमने मुझे बचा लिया मैं बाहुबली की भान्ति, मान गज पर सवार था । तूने ब्राह्मी-बन, विचार-अंकुश लगाया, अतः धन्यवाद की पात्र हो ।"

उसके बाद ध्वजा लगाना छोड़ दिया ।

सम्वत् १७५० का चौमासा पाटन था । खूब ठाठ से महोत्सव पूर्वक नगर प्रवेश के दिन मंगलाचरण बाद प्रभावना की, तो १६००० रुपए का खर्च हुआ । उस समय एक रुपए की भी बहुत कीमत थी । १६००० व्यक्ति आए तो सभा खचाखच भरी ही दिखे । उपाध्याय जी ने दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा की व्याख्या की तो जनता डोलने लगी । क्या छटा है बोलने की ? वक्तृत्व कला तो गजब की है-आदि ।



उसी सभा में एक अस्सी वर्ष की वृद्धा बैठी थी । वह पूर्वजन्म में उपाध्याय जी की मां थी । लोगों को वाह-वाह करते देख कर उसे उपाध्याय जी से कुछ कहने का मन हुआ । पर भरी सभा में संकोच वश कह न पाई ।

दोपहर को तीन बजे उपाध्याय जी के उपासरे में आई तो द्वारपाल ने रोका कि व्याख्यान सिवाय स्त्रियां उपासरे में नहीं आ सकतीं । उसी समय १६००० रुपए की प्रभावना करने वाले सेठ आए । ऊपर जाने लगे तो वृद्धा ने रोक कर कहा :-

"आप ऊपर जा रहे हो तो उपाध्याय जी को कहना कि मैं ८० वर्ष की हूं और आप ७५ वर्ष के । फिर भी मेरे निमित्त आपको या आपके निमित्त मेरे को विकार उत्पन्न होने का भय है ? इतने वर्ष तक चारित्र पालने पर भी,असाधारण पाण्डित्य प्राप्त करने पर भी विचार-वासना पर नियन्त्रण करने में शक्तिमान न हुए, तो आत्मोन्मुखी-स्वरुपावलम्बी कब बनोगे ? आत्मलक्षी बनो, तो कल्याण हो ।"

सेठ जी ने ऊपर जा कर सब बात की । उपाध्याय जी ने वृद्धा को ऊपर बुलाया । उसने आकर वंदना की और बोली :-

" महाराज साहिब ! आपने आज मंगलाचरण में जो श्लोक बोला था, उसका अर्थ-भावार्थ-रहस्य समझ में नहीं आया ।" उपाध्याय जी ने हंस कर कहा :-

" उस श्लोक में तो न्याय का गहन विषय था । उसे तुम क्या जान सको ?" वृद्धा :- "महाराज जी, मैं आपके पास अन्याय सुनने आई ही नहीं हूं । न्याय सुनने ही आई हूं ।"

युक्तिबद्ध वचन सुन, खुश हुए उपाध्याय जी ने सुन्दर भाव युक्त अर्थ-किया । दो-तीन-पांच बार अर्थ किया किन्तु वृद्धा को सन्तुष्टि न हुई । तो चिड़ कर बोले :-



" अरे वृद्धा ! मेरा व्यर्थ समय क्यों बर्बाद करती है । मैं ने पहले ही कहा था कि इसमें तुम्हें समझ नहीं पड़ेगी । अब पधारो । हाथ में माला लेकर प्रभु-भजन करो ।" तब संतोक मां उठ कर सिंह वत् गर्जना करती निर्भीकता से बोली :-

" विद्या के मद से मस्त बने, लोगों की मान-पूजा रुपी कीचड़ में फंसे, अपनी वक्तृत्व कला के घमंड में व्यामोहित होने वाले हे मुनि ! यह श्लोक तो तत्वज्ञान का झरना है । अध्यात्म ज्ञान रुपी सूर्य की ज्वलन्त किरण है । आप बाह्य अर्थ करते हो वह यथार्थ नहीं । इसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है----------।"

तब अपूर्व तत्वज्ञान की भावनाओं से भरपूर सविस्तार अर्थ किया । जिसे सुन कर छाती में वज्रघात समान प्रहार हुआ । अभिमानी हृदय विदीर्ण हो गया । विचार मन्थन हुआ कि "अहो महान पंडितों को परास्त करने वाला यशा एक बुढ़िया से निस्तेज कैसे बन गया ? आज पर्यन्त जीवन्त रखे मेरे मान को इसने मर्दन कैसे कर दिया ? तब सम्मान पूर्वक शान्त व नम्र बन कर जाती हुई संतोक मां को रोक कर बोले :-

"माताजी ! अहंकार से अन्ध बनी मेरी अन्तर्चक्षु को अपूर्व तत्वज्ञान रुप अंजन डाल कर जागृत करने वाली मेरी अन्तर भूल को सुधारने वाली तुम कौन हो ? यशा की भूल निकालने वाली यह वृद्धा नहीं हो सकती । किन्तु तुम्हारे हृदय में यह सब सिंचन करने वाले किसी महापुरुष का वास है । कृपा कर कहो कि किस महापुरुष की कृपा से यशा को जागृत करने वाला ऐसा तत्वज्ञान प्राप्त किया है ?"

"उपाध्याय जी की सरलता व सच्ची जिज्ञासा जान कर संतोक मां ने पूज्य आनन्दघन जी म० का नाम लिया और बताया कि वे पाटण से कुछ दूर जंगलों में एकांत निवृति स्थान में रहते



हैं । उन्हें खोज कर उनके चरणों मे सर्वस्व अर्पण करो तो तुम्हारा कल्याण हो जाए ।''

सुनते ही उपाध्याय जी ने प्रतिज्ञा की कि उनसे मिले बिना अन्न जल का त्याग ।

''कम्मे शूरा ते धम्मे शूरा ।'' बस, संघ का काम शिष्योंको सौंप कर स्वयं हाथ में तिरपनी लेकर जंगलों में खोजते खोजते, वनवासी लोगों से पूछ पूछ कर तीसरे दिन प्रभात के मंगल समय में जंगल की झोंपड़ी में विराजमान अलमस्त योगी का अद्‌भुत रुप, तेजस्वी मुख, निर्मल शान्त आकृति देख आश्चर्य मिश्रित आनन्द से महात्मा के चरणों में सिर झुका, नमस्कार किया । पुत्र को देख कर जैसे पिता हर्षित होता है, वैसे ही योगी को हर्ष हुआ । पुलकित हृदय से बोले :-

'' यशा ! आईए । कई दिनों से तुम्हें मिलने की भावना थी आज पूरी हो गई ।''

'' तत्पश्चात् औपचारिक रुप से काशी की व वर्तमान जीवन सम्बन्धी बातें करते हुए पूछाः-

'' यशा ! दशवैकालिक सूत्र देखा है ?

साभिमान बोलेः- हां साहिब ! दशवैकालिक, सुयगडांग-ठाणांग-पन्नवणा - भगवती जी आदि सभी सूत्र मैं ने अच्छी तरह देखे हैं ।''

योगी ने गम्भीर मुख मुद्रा रख, विहार सम्बन्धी इधर उधर की बातें पूछ पुनः पूछा :- ''दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन आता है ?''

तब झट से उत्तर दिया :- '' हां साहिब ! सभी सूत्र कंठस्थ है ।''

''अच्छा ! प्रथम अध्ययन की पहली गाथा का अर्थ करो ।''



" इसमें क्या है ?" ऐसा कह गाथा बोल, अर्थ किया ।

" यशा ! मै आपका पाण्डित्य देखना चाहता हूं । फिर से अर्थ करो ।"

यशा ने एक बार, दो बार नही ५० बार नई युक्तियां लगा कर, न्याय तर्क लगाकर, अर्थ किया, पर योगीराज का एक रोम भी रोमांचित न हुआ । तब सोचने लगे - यह योगी कैसा है ? पण्डितों की सभा में ऐसा अर्थ किया होता, तो वे आश्चर्य मुग्ध बन जाते । सारा ब्रह्मांड डोल जाता । इस प्रकार की तैयारियों से या तो मूर्ख व्यक्ति को आनन्द नहीं होता या महापुरुष आश्चर्य नहीं पाते । अन्तर में मंथन चला, यह तो अजब योगी है । मैं ही नराधम हूं, पापी हूं, अहंकारी हूं । तुरन्त योगीराज के चरणों में सिर रख कर बोले - मेरा उद्धार करो, मुझे पावन करो - "मेरा श्रेय करो ।" अहंकार का विष वमन कर निर्मल बने उपाध्याय जी के हृदय में अपूर्व अमृत का सिंचन करते हुए उसी गाथा की सतत तीन दिन - तीन रात व्याख्या कर आत्मज्ञान की प्राप्ति कराई । सुज्ञ को समझाना सरल होता है । इसी अनुसार क्षुधातुर को यथा भोजन से तृप्ति होती है, वैसे ही योगी की अपार कृपा एवं उपासना से उपाध्यायजी को सम्यकत्व की प्राप्ति होने से, जीवन सार्थक हो गया । परमोपकारी गुरुदेवके चरणों में बारम्बार नमस्कार कर, आज्ञा ले, सातवें दिन पाटण आ कर पारणा किया । तभी से जीवन धन्य बन गया । अनेक स्तवन - सज्झाय - ग्रन्थों की रचना कर डभोई में अस्सी (८०) वर्ष की आयु में स्वर्गवासी बने ।

ऐसे विद्वद् शिरोमणि गुरुदेव के चरणों में शत - शत वन्दन । संक्षेप से लिखे महामहोपाध्याय जी के जीवन से हम भी कुछ प्राप्त करें । उनके कई जीवन प्रसंग उल्लेखनीय अभी शेष हैं । पूरा जीवन तो लिखा ही नहीं जा सकता ।



यशस्वी प्रियदर्शी सितारे

उदयन मन्त्री की अन्तिम भावना

गुर्जर - लाट - मालवा आदि अठारह देशोंका अधिपति महाराजा कुमारपाल ।

उसका मन्त्री उदयन !

एक बार सौराष्ट्र के राजा समरसेन ने कुमारपाल की आज्ञा में रहने से इन्कार कर दिया । उसे वश करने के लिए महाराजा कुमारपाल ने उदयन मन्त्री के साथ विशाल लश्कर भेजा । अनेक मांडलिक राजाओं के साथ सौराष्ट्र तरफ कूच करके जाते हुए उदयन मन्त्री ने बीच में वढवाण में पड़ाव डाला । वहां से आगे चल कर श्री सिद्धाचल की यात्रा करने गए । वहां गिरिराज पर चढ़ कर, श्री ऋषभदेव की पूजा की । फिर चैत्यवंदन करने बैठे । तव मन्त्री ने एक आश्चर्य देखा----------

मंदिर में प्रदीप्त दीपक की वाट (बत्ती) को एक चूहा अपने मुंह में लेकर बिल में घुस रहा था कि पुजारियों की दृष्टि पड़ते ही उन्होंने महामुसीबत से वह बत्ती छुड़वाई । इस दृश्य को देख कर मन्त्री ने विचार किया----- :

" इस प्रकार की दुर्घटना से इस काष्ठ के मन्दिर को आग लगने का भी भय है , जिससे तीर्थ की महान आशातना होना सम्भव है ।" विचारधारा आगे बढ़ी ------

" धिक्कार है मेरे जैसे को,कि जिसने राज्य की सेवा में सारा जीवन गंवा दिया तो भी ऐसे तीर्थ का जीर्णोद्धार न करा



सका । वस्तुतः इस पवित्र तीर्थ में लक्ष्मी का व्यय करना ही जीवन की सफलता है --------।''

इस प्रकार विचार करते करते वहीं पर अभिग्रह लिया कि '' इस राज्यकार्य को पूरा करके, जब तक इस तीर्थ का उद्धार न करुं तब तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन , भूमि संथारा और नित्य एकाशना करना । साथ में शकुनि (शमली) विहार का भी जीर्णोद्धार कराना ।''

उसके बाद विमलगिरि की यात्रा करके , नीचे उतर कर सैन्य सहित आगे चल पड़े, क्यों कि स्वामी की आज्ञा का पालन करना यह उत्तम धर्म है । शत्रु के शहर के बाहर पहुंच कर मन्त्री ने दूत को समर राणा के पास भेजा कि '' आप कुमारपाल की आज्ञा मानो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । ''

इस की बात सुन कर राणा कोपायमान हो कर सिंह की तरह युद्ध करने को तत्पर हो गया । घमासान युद्ध हुआ । अन्त में समर राणा के मर्मस्थल में बाण लगने से मृत्यु हो गई । उदयन मन्त्री की सेना में जयजयकार हो गया । तत्पश्चात् उदयन मन्त्री ने समर राणा के पुत्र को गद्दी पर बिठाया और पुष्कल धन ग्रहण किया ।

वहां से वापिसी के समय मार्ग में ही मन्त्रीश्वर एकदम बेहोश हो गए,क्यों कि युद्ध में बाणों से सारा शरीर विंध गया था । शीतलोपचार आदि महा मेहनत से मन्त्री को थोड़ा होश आया । उसी समय उन्हें तम्बू में ले जाकर सुन्दर शय्या में सुलाया गया । अनेक औषधोपचार चालू कर दिए परन्तु मन्त्री तो जोर जोर से विलाप करने लगा । तब मांडलिक राजाओं ने उसे पूछा :-

'' आपको क्या दुःख है ? आप इस तरह उदासीन,व्यग्र दिख



रहे हो । आपने आज तक अनेक युद्ध किए,और वीर पुरुषोचित ऐसे अनेक प्रहार सहन किए, तथापि कभी भी आपने ऐसी व्यग्रता नहीं दिखाई, आप बताओ आपके मन में क्या व्यथा है ? क्या बात है ? ''

उदयन मन्त्री ने आर्द्र स्वर से कहा :-

'' शत्रु के बाणों के प्रहारों से मुझे जो वेदना हुई उसका मुझे तनिक भी रंज नहीं क्योंकि स्वामी के हुक्म से युध्ध में गया शूरवीर योद्धा, कदापि प्राणों की परवाह नहीं करता । उसे तो इसमें आनन्द आता है । परन्तु श्री शत्रुंजय और शकुनि तीर्थ के उद्धार की मैं ने जो प्रतिज्ञा ली है, उसका विचार कर रहा हूं । मेरी मृत्यु से इस प्रतिज्ञा का पालन रह जाएगा, यही शल्य मेरे मन में पीड़ा दे रहा है । अन्य किसी भी प्रकार का ऋण मनुष्य को दुख का कारण बनता है , फिर यह तो देव का ऋण है यह तो महादुख का कारण है । इस तरह देवऋण और नियम भंग इन दोनों बातों से मेरे हृदय में वेदना का पार नहीं है ।''

यह सुन कर सेनापति आश्चर्य चकित हो कर कहने लगे :- '' हे मन्त्रीश्वर ! आप अपने मन में किसी प्रकार की चिन्ता न करें । आप के दोनों बेटे सुयोग्य हैं । आपके दोनों पुत्र वाग्भट्ट (बाहड) और आम्रभट्ट को आपकी प्रतिज्ञा की बात करेंगें । आपकी इच्छा के अनुसार, आपके पुत्रों को उसी तरह के अभिग्रह दे कर दोनों तीर्थो का उद्धार कराएंगें । यदि वे इस कार्य को अस्वीकार करेंगे तो हम स्वयं ही उसे करेंगें । आप निश्चिन्त रहें । ''

इस प्रकार का मधुर आश्वासन प्राप्त करके मन्त्री को अत्यन्त शान्ति मिली, वे बोले :-

'' आपकी बात से मुझे अत्यन्त राहत मिली है । अब मैं ने



अन्तिम आराधना करनी है । अतः कोई साधु मुनिराज को बुला दो । ''

बहुत तलाश के बाद भी किसी भी मुनिराज का योग मिला नहीं । तब यह सोच कर, कि मन्त्रीश्वर को असमाधि न हो,इस लिए किसी वंठ (सामान्य व्यक्ति) को पकड़ लाए उसे सारी स्थिति समझा बुझा कर साधु का वेश पहना कर, सारी योजना समझा कर, सिखा कर, मन्त्रीश्वर के पास ले गए । मुनि को देखते ही मंत्री ने वन्दन की । श्री गौतम स्वामी की तरह उस मुनि को खमा कर सर्व जीवों से खिमतखामणा और दुष्कृत निन्दा, सुकृत अनुमोदना करते करते, शुद्ध अध्यवसाय सहित भावना भाते देहोत्सर्ग करके स्वर्ग सिधारे । उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करके सर्व सामन्त राजा, सैन्य सहित पाटण तरफ प्रयाण कर गए ।

अब इस तरफ वह वंठ पुरुष, जो मुनिवेष पहन कर आया था, वह मन्त्रीश्वर द्वारा किए गए नमस्कार से आश्चर्य को प्राप्त हुआ । उसके विवेक चक्षु खुल गए । सोचने लगाः-

''ऐसा महर्द्धि गुर्जरेश्वर का मन्त्री, जिस वेश के कारण मुझे वन्दन करे, उस वेष को छोड़ देना, मूर्खता है । चाहे मैं ने इच्छा के बिना यह साधु वेष लिया था , परन्तु अब इसी वेष में रह कर ही मुझे आत्म कल्याण करना है । बार-बार मुझे ऐसा वेष कौन देगा ? ''

इस प्रकार मन में विचार कर वह वेषधारी साधु रैवताचल पर जा कर शुद्ध अनशन पाल कर देवलोक सिधारा ।

सभी मण्डलेश्वर भी शीघ्रतापूर्वक पाटण पहुंचे । उन्होंने समर राजा के राज्य में से प्राप्त की हुई अढलक लक्ष्मी महाराजा कुमारपाल के चरणों में भेंट की और अत्यन्त खेदपूर्वक उदयन मन्त्री के स्वर्गवास



तथा अन्तसमय की प्रतिज्ञा का सर्व वृतान्त कहा । जिसे सुन कर राजा ने मुख में से ताम्बूल आदि मुखवास निकाल दिया और एक बड़े भाई की तरह शोकमग्न हो गया ।

उदयन मन्त्री के सुपुत्र वाग्भट्ट और आम्रभट्ट तथा अन्य मन्त्री भी शोकातुर हो गए । श्री कुमारपाल भूपाल ने स्वयमेव मन्त्रीश्वर के आवास पर जा कर, अति आदर पूर्वक उसके पुत्र परिवार को दिलासा दिया और श्री वाग्भट्ट को महामंत्री के रुप में स्थापित किया ।

अब वे सभी मण्डलीक राजा श्री वाग्भट्ट और आम्रभट्ट के पास आकर श्री उदयन मन्त्री द्वारा तीर्थ उद्धार के लिए ली हुई प्रतिज्ञा बता कर बोले :-

" आप, पिता की भक्ति के लिए तथा धर्म की रक्षा के लिए उदयन मन्त्री द्वारा किए गए अभिग्रह को ले कर महान तीर्थ का उध्धार करो । जो पिता के ऋण को चुकाता है, वह वस्तुतः सुपुत्र गिना जाता है । आप इस देव-ऋण में से पिता को मुक्त करके प्रशंसा के पात्र बनो । "

मण्डलेश्वरों की ऐसी अमृत तुल्य वाणी सुन कर दोनों मंत्रीपुत्र अति आनन्दित हुए औरं दोनों ने एक-एक तीर्थ का उद्धार करने का अभिग्रह धारण किया ।

मंत्रीश्वर वाग्भट्ट के श्री कुमारपाल राजा की आज्ञा मांगने पर राजा ने कहा :-

" ऐसे पवित्र गिरिराज श्री शत्रुजंय के उद्धार की बात में मेरी आज्ञा मांगने की, हो ही नहीं सकती । तीन जगत के नाथ ऐसे ऋषभ देव स्वामी के चैत्य का उद्धार, सुख से करो । "

इस प्रकार के राजा के सहकार से और आचार्य श्री हेमचन्द्र



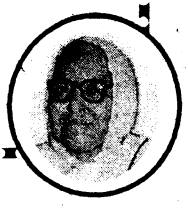
जी के आशीर्वाद से श्री वाग्भट्ट ने महान सैन्य ले कर ऋद्धिपूर्वक श्री शत्रुंजय तीर्थ तरफ चलना शुरु किया। कुछ ही दिनों में सिद्धाचल पहुंच कर श्री आदिनाथ प्रभु का दर्शन-पूजन किया। वहां सर्व सैन्य के लिए तम्बू तानकर पड़ाव डाला। वहां पर होश्यार सलाट तथा शिल्पी बुलवाए। ऐसे पवित्र तीर्थ के उद्धार की बात सुन कर अन्य अनेक श्रेष्ठी भी ऐसे पुण्य कार्य में लाभ लेने के लिए एकत्र हुए। उसी समय----

वहां भीम नामक एक घी का व्यापारी, सिर पर घी की मटकी रख कर फिरता-फिरता आ पहुंचा। उसके पास पूंजी में मात्र छः सोनैया थे और वहां लाया हुआ घी प्रामाणिकता से बेच कर एक सोना मोहर और एक रुपया कमाया। उस वणिक ने सातों सोनामोहर वस्त्र की गांठ में भाव पूर्वक बांध कर एक रुपये के फूल ले कर श्री नाभिनंद की पूजा-सेवा की। नीचे उतर कर कौतुक से तम्बू में रहे हुए सैन्य को देखते देखते श्री वाग्भट्ट मन्त्री के तम्बू के पास आया।

सिपाहियों ने उसके मैले वस्त्र देख कर अन्दर आने न दिया, पर बाहर से मन्त्रीश्वर की रिद्धि देख कर विचारने लगा कि कहां इस मन्त्री की रिद्धि और कहां मैं? यह तो अलौकिक चारित्रवान और महान पुण्यशाली है----आदि विचार कर ही रहा था कि सैनिकों ने उसे देख कर उसको गले से पकड़ कर उसे बाहर निकाल दिया। यह बात मंत्री ने जानी तो तुंरत भीम को अपने पास बुलाया।

भीम, मन्त्रीश्वर वाग्भट्ट को प्रणाम करके बैठ गया। तब मन्त्री ने अपने स्वजन की भान्ति आदरपूर्वक पूछा :-

" आप कहां से आए हैं ?"



भीम ने सर्व वृतान्त कहते हुए घी के व्यापार के लाभ की बात की तथा एक रुपये के फूल ले कर उसने पूजा की,यह बात भी बताई ।

मन्त्री ने कहा :-

" धन्य है तुम्हें, कि ऐसी स्थिति में भी आपने परमात्मा की पूजा-सेवा की । आप मेरे साधर्मी भाई बने । "

इस प्रकार प्रशंसा करके सर्व सभा समक्ष उसके कंधे पर हाथ रखा । उत्तम वस्त्रधारी मंत्री कहां ? और मलीन वेष वाला यह वणिक् भीम कहां ? मानो स्फटिक रत्न के पास श्याम पत्थर न हो ?

भीम ने सोचा :- "वास्तव में परमात्मा की पूजा का ही यह प्रताप है , कि मेरे जैसे गरीब को गुर्जर मन्त्रीश्वर इतना अधिक मान दे रहा है । "

उस समय सर्व श्रेष्ठी मन्त्रीश्वर के पास आकर हर्षोल्लासपूर्वक कहने लगे :- " हे मन्त्रीश्वर ! तीर्थोद्धार करने में आप अकेले ही समर्थ हैं तथापि हमें भी इस पुण्य कार्य में थोड़ा थोड़ा लाभ लेने दो । अपनी शक्ति अनुसार हम जो दें वह जीर्णोद्धार में लगा कर हमारी भावना पूर्ण करो ।"

साधर्मिक बन्धुओं के अति आग्रह से उदारचित वाग्भट ने सबके नाम लिखना चालू कर दिया । तब पास बैठे भीम वणिक् को विचार आया :- " मेरी समस्त पूंजी,सात सोना मोहर जो मेरे पास है इस चैत्योद्धार में व्यय हो तो मेरा जीवन सफल हो जाए । "

परन्तु शर्म के कारण वह कुछ बोल न सका । मन्त्री,उसके मन की बात ताड़ गया । वह बोला :- " वणिक्बन्धु ! आप कुछ



कहना चाह रहे हैं, तो बोलो क्या इच्छा है ? ''

भीम ने अति हर्ष पूर्वक वे सात सोना मोहरें निकाल कर मन्त्री के हाथ में देते हुए कहा :-

'' मेरी भी ये सात सोना मोहरें इस उद्धार में लगाने की कृपा करें । ''

भीम की बात सुन कर मन्त्री तो एकदम विस्मित हो गया । मन्त्री ने भीम का नाम सबसे ऊपर लिख दिया । यह देख कर सब सेठिया लोगों का मुंह उतर गया । मन्त्री ने वस्तुस्थिति समझाते हुए कहा :-

'' आप सब की अपेक्षा इसने अधिक दिया है । क्योंकि आपने तो अपनी पूंजी का सौवां भाग भी दिया नहीं , जब कि भीम ने अपनी सर्व पूंजी दान दे दी है । ''

---यह सुन कर सबके मुहं नीचे हो गए । भीम भी अपनी प्रशंसा सुन कर स्वयं को धन्य मानने लगा ।

तत्पश्चात् मन्त्रीश्वर ५०० सोनामोहरें तथा तीन उत्तम वस्त्र भीम को देने के लिए तत्पर हुआ । तब भीम ने अस्वीकार करते हुए कहा :- '' क्या इतने दान के लिए मैं अपना पुण्य बेच डालूं ?''

आदर सहित अस्वीकार करके भीम अपने घर गया । घर में जाते ही उसे अपनी झगड़ालू स्त्री से बहुत भय रहता था । आज उसे यदि पता चले कि मैं ने सारी पूंजी दान कर दी तो उस की क्या दशा वह करेगी ? इत्यादि विचार करते डरते-डरते उसने घर में प्रवेश किया । परन्तु उसके आश्चर्य का पार न रहा, जब उसकी पत्नी ने अतिप्रिय और मधुर वचनों से उसका स्वागत किया ।

भीम विचार में पड़ गया कि जहर में अमृत,अग्नि में कमल की



भान्ति इस स्त्री के मुख में मधुर वचन हो नहीं सकते । पर लगता है, आज मेरा अहोभाग्य है कि यह महाक्रोधी होने पर भी एकदम शान्त बन गई है । भीम ने जीर्णोद्धार में अपना द्रव्य लगाने की बात उससे की तो वह बोली :-

"स्वामिन् । यह तो बहुत पुण्य का काम आपने किया । अपने घर-संसार के लिए तो सभी खर्च करते हैं, पर ऐसे धार्मिक कार्य में तो पुण्यशाली का ही धन लगता है । फिर आपने मन्त्रीश्वर के पास से भी सोना मोहरें न लीं, वह भी बहुत सुन्दर किया । तीर्थस्थान में अन्य की लक्ष्मी कैसे ली जाए ? आदि-"

थोड़ी देर बाद भीम वणिक्, गाय को बांधने के लिए कीला लगाने की जगह खोद रहा था । उस समय जमीन में से सोनामोहरों से भरा एक चरु निकला । उसे खोला तो अन्दर से चार सौ सोनामोहरें निकलीं । भीम सोचने लगा कि वास्तव में यह सात सोनामोहरें दान देने का फल है । अतः इनको भी शुभ मार्ग में उपयोग करुं ।

इस प्रकार निश्चय करके अपनी पत्नी से बात की । उसने भी सोनामोहरें ले कर वाग्भट्ट मन्त्री के पास जाने को कहा । भीम ने वहां जा कर तीर्थोद्धार में वह धन लगाने को कहा ।

मन्त्रीश्वर ने कहा :- "तुम्हारे पुण्य से मिली लक्ष्मी है,आप सुख से इसे भोगो । "

भीम ने कहा :- "यह मेरा धन नहीं, मैं पराया धन कैसे भोगूं ?"

तथापि मन्त्रीश्वर ने जबरदस्ती से उसे धन वापिस देना चाहा । भीम लेता नहीं है । इसी रकझक में रात हो गई ! दोनों



अपने स्थान पर सो गए ।

रात्रि में स्वप्न में तीर्थ के अधिष्ठायक कपर्दी यक्ष ने भीम को कहा :- " एक रुपए के फूल, भाव से परमात्मा की पूजा में लगाए । अतः प्रसन्न हो कर यह धन आपको दिया है । साथ ही तुम्हारी स्त्री को भी सुन्दर वचन बोलने वाली बनाया है । अतः यह सब द्रव्य अपनी इच्छानुसार भोगो ।"

इस प्रकार कह कर वह यक्ष अंतर्ध्यान हो गया । प्रभात में उठ कर भीम ने सर्व वृतान्त मन्त्रीश्वर को बताया और सोना-रुपा के पुष्पों से श्री आदिनाथ प्रभु को वधाया और वह सोना मोहरें ले कर अपने घर गया ।

उसके बाद मन्त्रीश्वर ने उस लकड़ी के मन्दिर को हटाकर सुन्दर पाषाणमय बनवाने की शुरुआत की । विधिपूर्वक सोनामोहरों से खातमुहुर्त करके श्री मूलनायक बिठाने की जगह पर कूर्माकार की सुन्दर शिलारोपण की ।

चैत्य का काम उल्लास पूर्वक कारीगर करने लगे और मन्त्रीश्वर भी कारीगरों को रोज नए वस्त्र व भोजन देने लगा । स्वयं पूरी देख रखता । ज्यों ज्यों मन्दिर ऊंचा आता था, त्यों त्यों मन्त्री का पुण्य भी बढ़ रहा था । ऐसे करते दो वर्ष में वह चैत्य तैयार हो गया । वह मन्दिर श्री शत्रुंजय गिरि के मुकुट समान शोभा देता था । आनन्द से उल्लसित हृदय से मन्त्रीश्वर प्रतिष्ठा की तैयारियों में लग गया ।

इसी बीच एक दिन कुम्हलाए हुए मुख से पुजारी ने अचानक आ कर,मन्दिर गिर जाने का , दुखद समाचार दिया । अमृत में विष जैसे इस शोक समाचार को सुनकर सूर्य को देखकर जैसे कमल खिलता है , ऐसे दुखी होने के बदले मन्त्री आनन्दित हो गया ।



सेवकों ने कारण पूछा तो बताया :-

" मेरे जीते जी यह मन्दिर गिर गया तो मैं इसे फिर से बनवा दूगां परन्तु दैवयोग से मेरी मृत्यु बाद जो गिरता तो इस के उद्धार का लाभ अन्य के हाथों को मिलता । मैं लाभ से वंचित रहता, इसलिए मैं खुश हूं कि मुझे ही यह लाभ मिलेगा । "

तत्पश्चात् शिल्प शास्त्र में प्रवीण ऐसे सलाटों को बुला कर मन्त्रीश्वर ने प्रासाद टूटने का कारण पूछा । तब सलाटों ने कहा :-

" यह प्रदक्षिणा वाला मन्दिर बनाने में आया था । क्यों कि विना प्रदक्षिणा के मन्दिर बनवाने वाले का वंश प्रायः नाश हो जाता है । यह मन्दिर तो, पवन को बाहर आने का मार्ग न रहने से अचानक ही टूट गया । "

यह सुन वाग्भट्ट ने, विचार किया :-

" वंश किसका रहा है ? मेरा भी रहेगा या नहीं,क्या कहा जा सकता है ? अपनी आत्मा को लगे पाप कर्म या पुण्य कर्म को क्या संतति रोक सकती है ? कदापि नहीं । इस भव और पर भव में पुण्य विना किसी का उद्धार होता नहीं । अतः धर्म रुपी सन्तान की वृद्धि ही वस्तुतः लाभदायी है । तीर्थ का उद्धार भव रुपी समुद्र में से तरने का उत्तम साधन है । अतः भरत राजा की तरह इस चैत्य का उद्धार करा कर अपना जीवन सफल करुं ।"

इस प्रकार विचार करके मन्त्रीश्वर ने सूत्रधारों को प्रदक्षिणा विना का मन्दिर बनाने का हुक्म दिया ।

तदनुसार पुनः मन्दिर बनना शुरु हुआ । और संपूर्ण होने में तीन साल लग गए । तीन करोड सोना मोहरें लगीं । उज्जवल



इस मन्दिर की तुलना कैलासगिरि से, लोग करने लगे । देवविमान सम इस चैत्यकी प्रतिष्ठा के लिए पाटण में विराजमान आचार्य हेमचन्द्र जी को विनती करके, संघ ले आया ।

वि. सं. १२११ में मागशिर शुदि सातम , शनिवार श्री ऋषम देव प्रभु की प्रतिष्ठा सूरीश्वर ने कराई । ध्वजदण्ड तथा सोने का कलश भी स्थापित किया । मंत्रीश्वर ने अट्ठाई महोत्सव कराया । सूरीश्वर के अनेक आर्शीवाद ले कर मन्त्रीश्वर गिरिराज पर से नीचे उतरा । नीचे तलेटी में अपने नाम से (बाहडपुर) नगर बसाया । उस नगर में "कुमार पाल विहार" नाम का एक चैत्य बनवाया । उसमें श्री पार्श्व प्रभु की प्रतिमा पधराई । उस नगर के चारों तरफ २५ सुंदर बगीचे बनाकर मंदिर की पूजा के लिए अर्पण किए । वहां से मंत्रीश्वर, श्री सूरीश्वर के साथ, सकल संघ सहित पाटण आए ।

अब गुर्जरेश्वर कुमारपाल की आज्ञा से तथा श्री बडे भाई वाग्भट्ट की अनुमति से आम्रभट भरुच नगर में गया और अपने पिता की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए श्री मुनिसुव्रत स्वामी के नए मंदिर का कार्य शुरु कराया । परन्तु कम नसीब से प्रारम्भ में नींव खोदने का काम करते एक दुर्घटना हो गई । नींव में बहुत से व्यक्ति दब गए । दबे हुए मजदूरों के परिवारी जन इससे अत्यन्त आक्रन्द करने लगे ।

आम्रभट भी यह जान कर अत्यन्त चिन्तातुर हो गया । वह सोचने लगा :- "यह क्या हो गया ? जीने के लिए दवा लेते, जैसे रोगी का मरण हो जाए, वैसे पुण्य का काम शुरु करते, मेरा महान पापबंध हो गया । इस कलंक से मैं लोगों को क्या मुंह बताऊंगा ? इस खड्डे में पड़ कर मर गए पुरुषों की पत्नियों की हाय से मैं जरुर जल जाऊंगा । इसकी अपेक्षा मर जाना



अच्छा । ''

इस प्रकार विचार करके , इस पाप में से पवित्र होने के लिए आम्रभट नर्मदा नदी के किनारे डूब मरने के लिए गया । उसकी धर्मपत्नी भी बहुत रोकने पर भी आम्रभट के साथ ही झंपापात करने गई । लोगों ने तथा अनुचरों ने बहुत रोका तथापि उस दम्पति ने छलांग लगा दी । परन्तु सहसा सब के आश्चर्य के साथ चमत्कार हुआ :-

नदी में गिरने पर भी उन्हें जरा भी चोट नहीं आई । एक महातेजस्वी देवी उन्हें दिखाई दी ।

आम्रभट ने पूछाः- '' आप कौन हो ? कृपा कर, बताओ ।''

देवी ने गम्भीर स्वर में कहा :-

''हे वत्स ! इस क्षेत्र की रक्षपाल प्रभाढया नामकी मैं देवी हूं । पुण्य की प्राप्ति के लिए तूने इस चैत्य का प्रारंभ किया तथापि तुम्हारे सत्त्व की परीक्षा के लिए यह सारा ही उपद्रव मैं ने किया है । हे वीर पुरुष ! वस्तुतः तू धन्य है । तेरे में उत्कट सत्व है । उत्तम पराक्रम विना कोई पृथ्वी का नाथ हो नहीं सकता । '' देहं पातयामि वा कार्यं साधयामि ।''

तुम्हारे सत्त्व से मैं प्रसन्न हूं । खड्डे में पड़े हुए सर्व मनुष्य सजीवन हैं । वह तूं स्वयं की नजर से देख सकता है ।''

ऐसा कह देवी अंतर्धान हो गई । आम्रभट ने भी चैत्य में आकर खड्डा खुदवाया तो सर्व मजदूरों को जीवित देखा ' दैवी चमत्कार वस्तुतः अजब होता है । ' ऐसा मान कर आम्रभट ने सभी देवियों को सुन्दर भोग देकर प्रसन्न किया ।

तत्पश्चात् निर्विध्नपणे से मन्दिर का काम शुरु हुआ और अठारह



हाथ ऊंचा एक चैत्य तैयार हुआ । उसमें आम्रभट ने मुनिसुव्रत स्वामी प्रभु की, राजा और रानी की, तथा अश्व एवं वाघ से मरी हुई और वृक्ष पर से गिरी हुई, ऐसी शकुनी (चील पक्षी) की, मूर्तियां उत्तम शिल्पीओं से तैयार कराई ।

अव प्रतिष्ठा के लिए मन्त्री आम्रभट ने सूरि महाराज को विनती की । श्री हेमचंद्राचार्य भी महाराजा कुमारपाल तथा संघ सहित पाटण से भरुच शहर पधारे । महान उत्सवपूर्वक विधि सहित शांति क्रिया करके कूर्म के चिन्ह वाली, श्री मुनिसुव्रत स्वामी की मूर्ति की, प्रतिष्ठा कराई ।

श्री चौलुक्याधिपति महाराजा कुमारपाल की कृपा से मल्लिकार्जुन कोशवाला, बत्तीस लघु घटों के प्रमाण वाला सुवर्ण कलश चढ़ाया । उत्तम दीपायमान रेशमी वस्त्र ध्वज के साथ, सुवर्ण दण्ड, विधि सहित स्थापन किया । उस समय सुन्दर और मधुर वाजिंत्रों के नाद किए गए । हर्ष के अतिरेक से उभरते हृदय से आम्रभट मन्त्री प्रसाद के उपर मयूर की तरह नृत्य करने लगा ।

आम्रभट ने वस्त्र तथा सुवर्णादिक दान करके लोगों का जन्म भर का दारिद्र दूर कर दिया । लोगों को इसके लिए मजदूरों की सहायता लेनी पडी । उसके बाद राजा के कहने से आम्रभट ने चैत्य पर से नीचे उतर कर आरती उतारने की तैयारी की ।

प्रथम आरती श्री कुमारपाल महाराजा ने उतारी । तब से यह प्रसिद्ध है :- "आरती उतारी राजा कुमारपाले--दीवो रे दीवो--। "

उसके बाद श्री आम्रभट ने उतारी । फिर मां पद्मावती, बहन व पुत्रों तथा क्रमशः सकल संघ ने आरती की ।

आरती के प्रारम्भ के समय श्री आम्रभट ने द्वारपालों को, अश्वों



का दान किया तथा सोना मोहरें सर्व लोगों को दान में देते हुए, जब सर्व समाप्त हो गया, तब अपने शरीर पर से आभूषणों का दान करने लगा। तब कुमारपाल ने उसका हाथ पकड़ कर शीघ्रता से आरती उतराई। उस समय आम्रभट ने कुमारपाल से रोकने का कारण पूछा तो राजा ने कहा :-

" हे आम्रभट ! तुम जब अपने शरीर के आभूषण भी देने लग गए तभी मैं ने रोका है , क्योंकि दान की धारा पर चढ़े हुए मनुष्य कभी कभी अपने मस्तक का भी दान दे देते हैं। आदि "

उसके बाद आम्रभट ने भगवान की स्तुति की :-

कछुआ एकदम नन्हा प्राणी होने पर भी अपनी पीठ पर पृथ्वी को धारण करता है , तथा अश्व को जीवितदान देने से दयालु जनों में शिरोमणि श्री मुनिसुव्रत स्वामी कल्याण-मोक्ष रुपी लक्ष्मी को, दें।

स्तवना के बाद चैत्यवन्दन करके,चैत्य से बाहर आ कर आम्रभट ने गुरु महाराज तथा राजा का बहुत सत्कार किया। तत्पश्चात सूरीश्वर पाटण पधारे। आम्रभट भरुच में ही कुछ समय के लिए रुक गया। समय बीतने लगा।

एक दिन आम्रभट अकस्मात गम्भीर अस्वस्थता में घिर गया। सभी संबंधी घबरा गए। अनेक उपाय करने लगे मन्त्रवादियों ने मन्त्रोपचार किया। स्नेही जनों ने तीर्थयात्रा की प्रतिज्ञा ली। वृद्धजनों ने गोत्रदेवी की मानता मानी। पुजारियों ने योगिनीओं को बली-बाकला से सन्तुष्ट किया, तथापि आम्रभट को किसी भी तरह आराम हुआ नहीं

अत्यन्त दुखी हो कर आम्रभट की माता ने श्री पदमावती देवी



की आराधना की । देवी प्रकट हुई और बोली :-

" तुम्हारा पुत्र जिस समय आनन्दमय हो कर चैत्य पर नृत्य कर रहा था, उस समय उसे योगिनियों ने अपनी पकड़ में ले लिया । ऐसे धर्मिष्ठ बत्रीस लक्षण वाले पुरुष को देख कर दुष्ट योगिनीयां (डाकिनीयां) ईर्ष्यालु बन जाती हैं । जब तक आ० हेमचन्द्र जी की उपस्थिति रही तब तक तो ये सब अप्रकट रहीं, तुम्हारे बेटे का अहित न कर सकीं । गुरुदेव के विहार कर जाने बाद,जैसे दरिद्रावस्था में दुख प्रकट होता है, वैसे ये प्रकट हुई हैं । इन्हें दूर करने के लिए वे सूरि जी ही समर्थ हैं । "

इतना बता कर, वह देवी अदृश्य हो गई । माता ने भी तुर्त सूरि जी को बुलाने के लिए पाटण में अपने व्यक्ति भेजे । वे लोग शाम को पाटण पंहुचे और आचार्य महाराज को सर्व वृतान्त कहा । सब जान कर सूरीश्वर श्री यशश्चन्द्र गणि को साथ ले कर तुरन्त आकाश मार्ग से भरुच में आ पहुंचे । आम्रभट की हालत देख कर यह जान लिया कि यह सारा उपद्रव योगिनीओं का ही है । उन्हों ने गणि की तरफ देखा । यश्श्चन्द्र गणि ने समझ कर माता को बतायाः-

" मध्यरात्रि में पुष्पादिक बलि की सामग्री ले कर किसी धीर पुरुष को हमारे पास भेजना । "

इतना कह कर आचार्य व गणि उपासरे में आ गए । आधी रात को सर्व सामग्री सहित एक पुरुष उपासरे आ गया । उसे लेकर आचार्य श्री व गणि श्री, सर्व योगिनीओं में प्रधान सैंधवी के मन्दिर तरफ गए । वहां पर अपनी मन्त्रादि विधि से सब योगिनियों को स्तंभित कर दिया । वे सभी अपने प्राणों की भिक्षा मांगने लगीं । तब गणि ने कहा :-



" अरी दुष्टाओ ! आम्रभट को छोड़ दो अन्यथा मृत्यु की शरण जाओगी । "

शरीर में कीले ठुक रहे हों, ऐसी वेदना को अनुभव करती देवियां, मुंह में उंगली डाल कर, मांत्रिक शिरोमणि से बोलीं:-

" हे गणीश्वर ! माफ कर दो । हम आपके भक्त को छोड़ देती हैं । इसके प्रमाण स्वरुप आप हमारा दाहिना हाथ पकड़ कर रखो । अब के बाद यदि हम इस महापुरुष का नाम भी लें तो हमें जीते जी मार देना । शरीर के स्तम्भन से हमारे प्राण कंठ में आ गए हैं । अतः दया करो और हमें शीघ्र मुक्त करो । "

गणि बोले :- " दुष्टाओ ! स्तम्भन मात्र से जब आपको इतना दुख हो रहा है तो प्राण लेने से दूसरों को कितना दुख होता होगा । प्राणों का रक्षण करने जैसा अन्य पुण्य का कोई काम नहीं । प्राणिवध समान अन्य कोई पाप नहीं । आज से तुम यदि प्रतिज्ञा करो कि किसी के प्राण नहीं लेंगी और उसमें भी आम्रभट जैसे जैनधर्म में स्थिर महापुरुष का तो खास करके रक्षण करेंगीं तो मैं तुम्हें मुक्त करुंगा।"

गणि श्री का उपदेश सुन कर सबने क्षमा मांगी । उन्हों ने उन सब को स्थम्भन मुक्त किया । फिर सभी, आचार्य श्री के चरणों में नमस्कार करके अपने अपने स्थान चली गई ।

उसी समय आम्रभट एकदम स्वस्थ हो गया । जिसका गुरु ऐसा समर्थ हो, उसे क्या फिक्र ? प्रातःकाल सूरिजी पाटण तरफ विहार कर गए । कुमारपाल ने जब यह सब वृतान्त जाना तो दानादि शुभ कार्य विशेष करने लगा । आम्रभट भी धर्मध्यान में विशेष दृढ़ हो गया ।

इस प्रकार उदयन मन्त्री की अन्तिम भावना साकार हुई ।



" आचार्य पादलिप्त सूरि "

" शत्रुंजय तीर्थ को पालिताणा भी कहते हैं । पालिताणा शब्द पादलिप्त से बिगड़ते बिगड़ते बना है । पादलिप्त सूरि जी के नाम से इस तीर्थ को पालिताणा कहा जाता है । ये अद्‌भुत प्राकृत कथा तरंगवती के रचयिता, अनेक विद्यामन्त्रों के ज्ञाता थे ।

आचार्य पादलिप्त सूरि जी का जन्म अयोध्या में हुआ था । पिता फुल्ल और माता प्रतिमा ने अनेक देवी देवता की आराधना से इस पुत्र को प्राप्त किया था । नाम रखा नागेन्द्र । माता ने बाल्यकाल में ही आचार्य नागहस्ति को अर्पण कर दिया था । आचार्य जी के आदेशानुसार माता ने सात वर्ष तक पाल पोस कर आठवें वर्ष में दीक्षा दे दी । दीक्षा नाम मिलता नहीं है । पश्चात नागहस्ति सूरि और पादलिप्त सूरि का ही वृतान्त जानने को मिलता है । पादलिप्त सूरि नाम कैसे पड़ा इसकी भी रोचक घटना है :-

आठ वर्ष वाले यह बालमुनि, एक दिन गोचरी गए, तो कांजी लाए ... विधिपूर्वक आलोचना की ... गुरु जी को बताई । गुरु ने पूछा :- " कहां से लाए हो ? " तब बालमुनि ने संस्कृत श्लोक में उत्तर दिया । श्रृंगार रस से युक्त उस श्लोक को सुनकर गुरु ने क्रोधित हो कहा :- " पलित्तोऽसि । तेरा पतन हुआ है । तूं गोचरी के अग्नि दोष से लिप्त हुआ है । " तब बुद्धिशाली बालक ने नम्रता सहित विनती की " गुरु जी ! इस में एक काना (मात्रा) और लगा दो तो मैं आपके आशीर्वाद से " पालित्तोऽसि (पादलिप्त)" बन जाउं । अग्नि दोष से रहित हो जाउं । पादलिप्त बनने से आकाश मे उड़ने वाला बनूं । " उसकी मनीषा से प्रसन्न होकर गुरु ने तुरंत आशीष दे दी । " पालित्तो होही । " बस



तभी से बालमुनि का नाम 'पादलिप्त' पड़ गया तीक्ष्ण मेधा देखकर १० वर्ष में ही गुरु ने आचार्य पद दे दिया । अपनी पाट पर स्थापन करके मथुरा भेजा । वहां से पाटलीपुत्र गए । अपनी प्रतिभा सम्पन्न विद्या - काव्य से मुरन्ड राज को प्रसन्न किया । एक बार सूरि जी ने अपनी तर्जनी उंगली घुटने पर फिराकर राजा का सिरदर्द ठीक कर दिया था । नित्य राज्यसभा में जाने लग गए थे ।

एक बार राजा ने कहा कि "मेरे नौकर वेतन देने पर भी अच्छा काम नहीं करते तो आपके शिष्य बिना वेतन कैसे सब काम करते रहते है ? " गुरु जी बोले" ये सब तो परलोक के हित के लिए आज्ञा पालन करते हैं । " राजा को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि संसार में मुख्य प्रवृति धन के लिए ही होती है । अतः परीक्षा करने का विचार किया । अपने मंत्री से कहा :- " आज नदी का प्रवाह किस दिशा में है, देखकर आओ ।" मन्त्री गया । इधर उधर घूम कर आ गया । आकर बोला " पूर्व से पश्चिम की ओर प्रवाह है ।" तत्पश्चात पादलिप्त सूरि जी ने अपने दो शिष्यों को भेजा, प्रवाह देखने । वे नदी पर पंहुचे । नदी को देखते ही समझ गए कि प्रवाह किस और है तथापि परीक्षा पूर्वक निश्चित करने के लिए एक तिनका पानी में डाला तो पता चला कि पश्चिम से पूर्व की ओर का प्रवाह है । आकर गुरु जी से सब वृतांत कहा । सूरि जी ने राजा से कहा । तब राजा स्वयं नदी पर देख कर आया तो निश्चित किया कि पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाह है । राजा को सूरि जी पर विशेष अनुराग हुआ ।

विशेषावश्यक भाष्य में कथा आती है .... राजा ने एकबार एक सूत का गोला सूरि जी के पास भेजा कि इसका किनारा निकाल कर दो । तब सूरि जी ने ध्यान से देखा तो पता चला कि इसका किनारा मोम से जोड़ दिया गया है । गुरु जी ने तुरंत गर्म पानी



में डाला । मोम पिघल गया । किनारा निकाल कर राजा के पास भेजा । राजा प्रसन्न हो गया । एकबार एक वृक्ष की लकड़ी दोनों तरफ से समान दिखे ऐसी करके भेजी और पूछा कि "इसका मूल किस तरफ है" सूरि जी ने बुद्धि से सोचकर पानी में लकड़ी डाल दी । मूल भारी होता है, अतः वह डूबने लगा । समझ गए । निशानी करके राजा के पास भेज दिया । राजा मन ही मन हैरान हो गया, बुद्धि पर । एक दिन एक डिब्बी अच्छी तरह से चारों तरफ से बन्द करके, खोलने के लिए सूरि जी के पास भेजी कि " इसका ढक्कन किस तरफ है ? " सूरि जी ने गर्म पानी में डाल दी । उस पर लेप था । पानी से लेप उतर गया । तुर्त ढक्कन खुल गया । राजा को सूरि जी पर और आदर हो गया ।

आचार्य पादलप्त सूरि जी बहुत तेजस्वी थे । बिहार प्रदेश के मानखेदपुर के राजा को जैन धर्मी बनाया था । भरुच के ब्राम्हणों को जैन धर्म के अनुरागी बनाया था । अनेक शक्तियों व लब्धियों के धनी सूरि जी नित्य प्रति शत्रुंजय, गिरनार, शिखर जी, अष्टापद तीर्थ और मथुरा के सुपार्श्वनाथ भगवान के स्तूप को वंदन करके, पश्चात मुख में पानी डालते थे ।

आचार्य श्री जी का एक गृहस्थ शिष्य था, जो महान रससाधक एवं मंत्र साधक था । सूरि जी को गुरु मानता था । वह जब मां के गर्भ में आया था तो मां ने हजार फण वाला नाग देखा था । अतः जन्म बाद उसका नाम नागार्जुन रखा । बचपन में ही इस बालक ने सिंह को मारा था । बड़ा होने पर जंगली गुफाओं, पर्वतों पर जा जा कर महात्माओं के संग से वनस्पति जडी बूटी रसायन एवं रस शुद्धि बनाना सीखा । जब उसने सूरि जी के अद्‌भुत चमत्कार सुने तो उनके पास एक रसकूपिका भेजी । सूरि जी ने वह रसकूपिका दूर पटक दी । वह सारी खाली हो गई । जमीन



पर सारा रस गिर गया । फिर उसी खाली कूपिका (शीशी) में सूरि जी ने अपना पेशाब भर कर उसे भेजा । नागार्जुन को जब पता चला कि उसकी मेहनत की वस्तु व्यर्थ ऐसे ही पटक दी गई है और उसमें पेशाब भरा है, तो गुस्से में उसने पत्थर पर उस पेशाब को पटक दिया । जहां पेशाब गिरा था, उस पत्थर पर अचानक किसी ने आग जलाई तो सारा पत्थर स्वर्णमय बन गया । नागार्जुन यह देखकर दंग रह गया और समझ गया कि सूरि जी के थूक और पेशाब तक में भी सोने को पैदा करने की शक्ति है तो एसे सिद्ध पुरुष की मुझे क्षमा मांगनी चाहिये । वह पादलिप्त सूरि जी के चरणों में उपस्थित हुआ । क्षमा मांगी और उनका परम भक्त बन गया । सदा साथ ही रहने लगा ।

पादलिप्त अर्थात् पैरों पर लेप करने वाले । उस लेप के प्रभाव से आकाश में उड़ने की शक्ति पैदा हो जाती थी । सूरि जी उसी लेप के प्रभाव से नित्य पंचतीर्थ की यात्रा करते थे । नागार्जुन, सूरि जी के पास ही रहता था । अतः सेवा का मौका भी उसे मिलता था । वह हर रोज सूरि जी के यात्रा करके आने बाद पांव धोता था । रोज रोज पाव धोते धोते औषधियों को सूंघ सूंघ कर उसने भी वैसी ही औषधियां ईकट्ठी कीं और लेप तैयार किया । पैरों पर लगा कर एक दिन वह उड़ने का प्रयत्न करने लगा । थोड़ा उपर उड़ा, पर वापिस गिर गया, फिर उड़ा फिर गिरा । तीन - चार बार ऐसे गिरने से उसे चोटें काफी लगी ।

सूरि जी को जब ज्ञात हुआ तो उसे बुला कर प्यार से बोले :- "वत्स, घबराना मत । मैं तुम्हारी बुद्धि चातुर्य से अति प्रसन्न हूं । तुमने मेरे से औषधियां पूछी होतीं तो मैं बता देता । गुरु गम विना कोइ भी सिध्धि प्रायः अधूरी रहती है । औषधियां तो तुमने सब ठीक ली है परंतु उन्हें सादे पानी में नहीं चावलों



के निर्मल धोवन और कांजी में घिसने से तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो सकती है ।

नागार्जुन ने क्षमा मांगी और गुरु जी के निर्देशानुसार करके आकाश में उड़ने लगा । हर रोज इच्छानुसार भ्रमण करने लगा । एक दिन सूरि जी से विनती की, कि मुझे कुछ सेवा बताओ । तब सूरि जी बोले :- "तुम जीवन पर्यंत जैन धर्म का पालन कर, अपना आत्म कल्याण साधो ।"

नागार्जुन ने स्वीकार किया । गुरु जी की स्मृति सदा रहे, इस कारण से गुरु के नाम से सिद्धगिरी की तलहटी में पादलिप्त पुर गांव बसाया, जो आज पालिताणा के नाम से प्रख्यात है । गिरनार के नीचे भी किले के पास द्वारिका के राजमहल बना कर उसमें उग्रसेन का महल, विवाह वेदिका आदि बनवाई ।

श्री कान्ता नगर के धनपति श्रावक ने समुद्र में से मिली पार्श्वनाथ की प्रतिमा समुद्र किनारे स्थापन की । नागार्जुन ने इसी प्रतिमा के सामने रससिद्धि की साधना की थी । सिद्ध होने पर उस स्थान पर थांभणा गांव बसाया । पश्चात आचार्य अभयदेव सूरि जी ने यह प्रतिमा प्रगट की । खम्भात में थंभण पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई ।

प्रतिष्ठानपुर में उस समय राजा सातवाहन राज्य करता था । उसकी राजसभा में चार विद्वान पंडित आए । राजा को उपदेश सुनाने के लिए । सातवाहन ने कहा कि मेरे पास इतना समय नहीं कि आप चारों का पूरा उपदेश सुन सकूं । अतः आप एक ही श्लोक मे चारों जन अपने अपने उपदेश का सार बता दो । तब उन्होंने सूचना प्रमाण में, प्राचीन ऋषियों के शास्त्रों का सार मात्र इस तरह राजा के सामने राजसभा में पेश किया :-



जीर्णे भोजनमात्रेयः कपिलः प्राणिनां दया ।

बृहस्पतिरविश्वासः पांचालः स्त्रीषु मार्दवम् ।।

अर्थ : आत्रेय ऋषि ने कहा कि पहले खाया भोजन पच जाए फिर दूसरा खाना । कपिल ऋषि ने कहा कि, प्राणियों पर दया करो । बृहस्पति ने कहा कि, किसी का विश्वास मत करो । पांचाल देश के अर्थात पंजाब के कवि ने कहा कि स्त्रियों के प्रति मृदु व्यवहार करो ।

यह सुन कर राजा ने बहुत बड़ा पुरस्कार चारों को दिया । परंतु वे बोले, " राजन् ! आप के साथ आप की राजसभा भी हमारी प्रशंसा करे, तभी हम खुश होएंगे ।" राजा ने अपनी भोगवती वारांगना को बुला कर इन कवियों की प्रशंसा करने को कहा, तो वह बोली :- "राजन ! महागुणवान, समर्थ, क्रियापात्र, महाकवि, आकाशगामी एवं महाविद्या सिद्ध, आचार्य पादलिप्त सूरि के सिवा मैं किसी विद्वान की स्तुति नहीं कर सकती ।"

शिवभक्त मंत्री ईर्ष्यालु था । वह बोला :- " यदि वह तुम्हारा गुरु, मर कर भी जीवित बने तो ही महागुणवान कहला सकता है ।" भोगवती को वट चढ़ गया । वह बोली :- "उनमें यह भी शक्ति सम्भव है ।" आचार्य श्री जी का नगर प्रवेश था, तब प्रथम तो बृहस्पतिने विरोध किया, पश्चात प्रसन्नता दिखाई । पांचाल कवि ने भी ऐसा सुर निकाला था कि " सूरि जी ने जो तरंगवती कथा बनाई है, वह तो केवल बालक, स्त्री और मूर्खो के ही पढ़ने के योग्य है । " ईर्ष्या से सब जलते थे ।

यह बात सूरि जी ने याद रखी । कुछ दिन बाद उन्हों ने मृत्यु का कपट दिखाया । मरण समझ कर सभी ने शव रूप सुरि जी



की पालखी निकाली । पालखी जब पांचाल कवि के महल के पास आई तो कवि दौड़ता हुआ घर से बाहर आया और शोकपूर्वक उच्च स्वर से बोला :- " जिस धुरन्धर विद्वान आचार्य के मुख रुपी झरणे में से तरंगवती नदी निकली, उस आचार्य को ले जाने वाले यमराज का मस्तक क्यों न फूट गया ? "

यह स्तुति सुन कर सूरि जी जीवित हो गये, अर्थी से उठ बैठे और पांचाल कवि से बोले :-

"तुम्हारी स्तुति से जीवित हो गया हूं ।" राजा, प्रजा और विद्वान, सभी खुश हो गये । सभी जैन धर्म की तथा सूरि जी की विद्वत्ता तथा शक्ति की भूरि- भूरि प्रशंसा करने लगे । कवि पांचाल भी भक्त बन गया ।

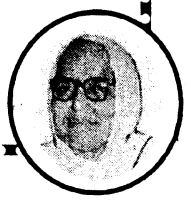
अन्त में 32 उपवास कर सिद्ध गिरि पर जिन्होंने देह का त्याग किया, जिस गुरु की पुण्य स्मृति में नागार्जुन ने वि. सं. प्रायः १९९ में पादलिप्त पुर नगर बसाया था, जो आज " पालिताणा " के नाम से प्रख्यात है, ऐसे -

महागुणवान् सूरिपुंगव को .....

शत - शत प्रणाम ! !! !!!

सात आश्चर्य :-

१. बीजापूर का गोल गुम्बद २. ताजमहल
३. चीन की दीवार ४. वेनीलोनिया के झूलते बाग
५. मिश्र का पिरामिड (धार्मिक स्थान)
६. कुतुब मीनार ७. फतहपुर सीकरी का द्वार



★ पेथड़शा मन्त्री ★

मालवदेश ....

मांडव गढ़ नगरी ....

राजा था जयसिंह ....

और यशस्वी मन्त्री था पेथड़शाह ।

पेथड़शाह के जीवन में महत्वपूर्ण धर्मानुष्ठान परमात्म-पूजन का ही पढ़ने में आता है, यधपि उस के जीवन में अपूर्व गुण-समृद्धि के दर्शन होते हैं ।

वह हमेशा मध्याह्न काल में ही परमात्म पूजन करता । पूजन का समय वस्तुतः मध्याह्न काल ही है । परमात्मा की प्रतिमा के माध्यम से वह मानो परमात्मा के ही दर्शन करता था । अन्यथा पाषाणमय प्रतिमा में इतनी तल्लीनता हो ही कैसे सके ? दश त्रिक सहित पूजा करता ।

पेथड़शा परमात्मा की पुष्पपूजा करते समय परमात्मा के साथ इतना तद्रुप और तदाकार बन जाता कि उसकी बगल में कौन बैठा है, इतना भी ध्यान न रहता ।

राजा जयसिंह के पास पेथड़शा के कई ईर्ष्यालु पुरुषों ने जाकर, राजा के कान भरे । राजा को महामन्त्री पर पूरा-पूरा विश्वास था । ईर्ष्यालु लोगों ने एक दिन राजा से कहा :-

"महाराज ! आप भले ही पेथड़शा पर विश्वास रखो, परन्तु वह आपको पदभ्रष्ट करके आप का राज्य हड़पने की योजना बना रहा है ।"

राजा ने पूछा :-



"इसका कोई प्रमाण तुम्हारे पास है ?"

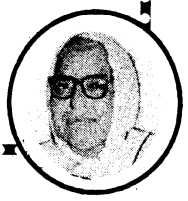
राजा जयसिंह बुद्धिशाली था । वह समझता था कि पेथड़शा के गुणों के कारण, उसकी कीर्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । राज्य की प्रजा को भी मंत्री के प्रति अमाप प्रेम और आदर है । अतः अन्य राजपुरुषों के हृदय में ईर्ष्या की आग भड़की है ।

किसी की प्रगति देख कर, उन्नति देख कर, खुश होने वाले मनुष्य बहुत कम होते हैं । ईर्ष्या से प्रेरित मनुष्य एकदम असत्य आरोप लगा देता है । उसका अपमान करने में वह अपनी एड़ी-चोटी का पूरा जोर लगा देता है ।

ईर्ष्यालु राजपुरुषों की राजा ने बात सुनी और प्रमाण मांगा, तो वे बोले :-

"महाराज ! महामन्त्री परमात्मा की पूजा के लिए मध्याह्न समय मन्दिर जाता है । वहां पर वह अन्य शत्रु राजाओं को मिलता है और आपके विरुद्ध षडयंत्र रचता है । आप मंत्री पर ज्यादा विश्वास मत रखो ।"

राजपुरुषों की बात सुनकर राजा के मन में पेथड़शा के विरुद्ध जरा भी शंका न हुई । महामन्त्री की निष्ठा में तिल मात्र भी सन्देह न हुआ । राजपुरुषों को विदा करके मध्याह्न समय राजा ने जिन मन्दिर में जाने का निर्णय किया । पेथड़शा जिस जिन मन्दिर में जाता था, मध्याह्न समय वहीं राजा पहुंच गया । मंदिर में जा कर उसने जो दृश्य देखा उससे उसका हृदय पुलकित हो उठा । आंखों में हर्ष के आंसू आ गए । जिन-मन्दिर में प्रशम-रस से परिपूर्ण परमात्मा की नयनरम्य प्रतिमा थी । उस प्रतिमा के सामने महामंत्री पेथड़शा अप्रमत्तपणे एकाग्र बन कर बैठा था । वह पुष्पपूजा कर



रहा था । परमात्मा की प्रतिमा को सुगंधी पुष्पों से सजा रहा था । पेथड़शा की दृष्टि प्रतिमा पर स्थिर थी । शुद्ध घी के दीपक प्रज्वलित हो रहे थे । सुगंधी धूप की सुगन्ध से मंदिर मघमघायमान हो रहा था । वातावरण इतना आहलादक था कि राजा जयसिंह का तन-मन प्रफुल्लित हो उठा । जरा सी भी आहट न हो, इस तरह धीरे से चुपचाप वह महामन्त्री के पास पहुंच गया । संकेत से वहां बैठे एक पुरुष को दूर हटाकर राजा स्वयं उस के स्थान पर बैठ गया । राजा ने पुष्पों को अनुक्रम में रचने का प्रयास किया पर निष्फल । गलत क्रम में पुष्प हाथ में आया तो पेथड़शा ने मुंह फिरा कर देखा तो आश्चर्य से देखता ही रह गया । अपने सेवक के बदले राजा को बैठे देखकर क्षणभर वह स्तब्ध सा हो गया । परन्तु राजा ने तुरन्त उसी व्यक्ति को उसके स्थान पर बिठा दिया और पुष्पपूजा में मन्त्री पुनः तल्लीन हो गया । राजा मन्दिर से बाहर आ गया । उसके मन में अनेक विचार आने लगे :-

ऐसा परमात्मभक्त महामन्त्री क्या कभी विश्वासघात जैसा घोर पाप कर सकता है ? कदापि नहीं । परमात्म पूजन में इतनी तल्लीनता विश्वास घाती के जीवन में आ ही नहीं सकती । पापी का मन सदा चंचल-अस्थिर होता है । महामन्त्री के मन में यदि राज्य की लालसा हो तो वह इतना निश्चल और स्थिर चित्त हो ही न सके । इतनी प्रसन्नता और पवित्रता मन्त्री के चेहरे पर छलक ही न सके । मेरा सौभाग्य है कि मुझे ऐसा गुणसमृद्ध महामन्त्री मिला ।

पेथड़शा की परमात्मपूजा ने राजा को प्रभावित किया । राजा के मन में इस प्रसंग से पेथड़शा के प्रति आदर द्विगुणित बन गया । राजा ने इर्ष्यालु राजपुरुषों को सेवा में से निवृत्त कर दिया । पेथड़शा को उन राजपुरुषों के प्रति भी कोई द्वेष न



था ।

किसी का उत्कर्ष देख कर प्रसन्न होने वाले गुणी पुरुष तो संसार में विरले ही होते है । उसमें भी यह तो 'राजनीति' । राजनीति में तो एक दूसरे के पैर खींचने का ही खेल चलता रहता है । "दूसरे को कुर्सी पर से उठाओ और मैं बैठ जाऊं," यही चलता रहता है राजनीति में ।

पेथड़शा का मन साफ था तो राजा भी प्रभावित हो गया । राजा भी तो बुद्धिशाली था । अन्यथा राजपुरुषों की बात सच मान लेता, बिना कुछ परीक्षा किए ।

हमें भी परमात्म पूजन में दत्तचित्त होने का प्रयास करना चाहिए ।

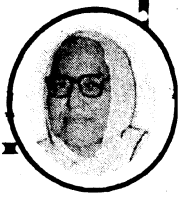
दूसरा प्रसंग :-

यह प्रसंग रोचक भी है और बोधक भी ।

मालवा में ताम्रावती नगरी में भीम नामका सोने का व्यापारी था । वह श्रीमंत - धनाढ्य होने के साथ साथ परम गुरुभक्त भी था । अपने गुरुदेव का कालधर्म (स्वर्गगमन) सुन कर उसे गहरा आघात लगा । उसने अन्न का त्याग कर दिया और सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने लगा ।

एक दिन उसके मन में भावना जगीः " देश के सभी ब्रह्मचारी स्त्री पुरुषों का मैं स्वागत करुं । "

ईसके लिये उसने प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये पांच पांच वस्त्र और परमात्म पूजन के लिए एक रेशमी वस्त्र भी भेजा । ब्रह्मचारी को दूसरे ब्रह्मचारी के प्रति प्रेम होता है । महानुभाव भीम स्वयं ब्रह्मचारी था । ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति उसे खूब आकर्षण था । अतः



दूसरे ब्रह्मचारी भी उसे प्रिय लगते थे । उनके सम्मान करने की उसे भावना जागी । उसने सभी ब्रह्मचारी व्यक्तिओं को वस्त्र भेजे ।

महामंत्री पेथड़शाह को भी वस्त्र भेजे । यद्यपि पेथड़शाह ब्रह्मचारी न था, परन्तु तत्कालीन जैन संघ का वह सर्वमान्य श्रेष्ठ श्रावक था । इसी कारण भीम ने वस्त्र भेजे थे । भीम ने अपने दो मित्रों को मांडवगढ़ के महामंत्री के पास भेजा था । वे मांडवगढ़ पहुंचे । महामंत्री की हवेली के पास जाकर उन्होंने, भीम का सन्देश सुनाया तो महामंत्री सुन कर गद्‌गदित हो उठा । भीम के प्रति उसके मन में अपार प्रेम उभर पड़ा । पर महामंत्री ने भीम की भेंट ऐसे स्वीकार न की । उसने दोनों आगन्तुकों को कहा :-

" मैं आप दोनों का स्वागत करता हूं । आप महानुभाव भीम की तरफ से उत्तम भेंट लेकर उपस्थित हुए हैं । उस भेंट का स्वीकार, मैं यहां नहीं करुंगा । नगर से बाहर धर्मशाला है, आप वहां पधारो । इस भेंट का मैं उचित्त स्वागत करुंगा । पश्चात् इसे स्वीकार करुंगा । "

उन दोनों को यह सुनकर बड़ा अचम्भा सा लगा । " महामंत्री इन वस्त्रों का स्वागत करेगा ? "

वे दोनों बेचारे महामंत्री के आदर्श को कैसे समझ सकें ? महामंत्री का संकेत प्रत्येक व्यक्ति नहीं समझ सकता । पाठकों के मन में भी शंका हो रही होगी कि मंत्री ने अपनी हवेली पर वस्त्र स्वीकार क्यों नहीं किए ?

महामंत्री ने उन दोनों आगन्तुकों से भीम के जीवन बारे बहुत कुछ जान लिया था । उसे जान कर मंत्री के मन में वैषयिक सुखों



के प्रति वैराग्य जन्मा था । उत्तम भावना जागृत हुई थी । यह भेंट उत्तम भावना को जगाने में निमित्त बन गई थी । अतः ब्रह्मचारी भीम के प्रति भी आदर था । इसी लिए ही इस ब्रह्मचारी की भेंट के प्रति भी आदरभाव जागा था । यद्यपि वह ब्रह्मचारी न था । अब्रह्म का सेवन करता था । परंतु अब्रह्म को, योग्य और अच्छा नहीं मानता था । वह सम्यगुदृष्टि गृहस्थ था ।

महामंत्री की बात मान कर वे दोनों आगंतुक नगर के बाहर धर्मशाला में जाकर ठहर गए । उनके भोजनादि की वहां उत्तम व्यवस्था थी ।

महामंत्री तब आयु में कोई बड़ा न था । मात्र 32 (बत्रीस) वर्ष की आयु थी । भर जवानी थी । पत्नि प्रथमिणी भी रुपवती व गुणवान थी । संस्कारी और सुज्ञ थी । पति पर अनहद प्रेम था । पेथड़शाह का वैवाहिक जीवन सुखी और संवादी था । पत्नी की कभी कोई शिकायत न थी । सभी तरह से वह पति के अनुकूल थी । तथापि पेथड़शा ब्रह्मचर्य व्रत का चाहक था । अब्रह्म सेवन की वासना थी, तो साथ साथ ब्रह्मचर्य व्रत पालन की चाहना और वासना भी थी ।

ऐसे संजोगों में भीम श्रावक की ओर से सभी ब्रह्मचारियों के लिए भेंट आई । महामंत्री ने उत्तम भेंट का भव्य स्वागत करना चाहा । उसने सोचा :-

" एक महान ब्रह्मचारी साधर्मिक मित्र की भेंट का अस्वीकार मेरे से कैसे हो ? मै ब्रह्मचारी नहीं, यह बात महात्मा भीम जानता ही होगा । तथापि उसने मेरे लिए भेंट भेजी तो मुझे स्वीकार करना ही चाहिए । जरुर भेंट स्वीकार करुंगा । जब तक मैं ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला न बनूं, तब तक इसे उपयोग मे नहीं



लाऊंगा । रोज इसका दर्शन करुंगा और दर्शन से ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करने की प्रेरणा लूंगा । ''

हजारों रुपये का सद्व्यय करके पेथड़शा श्रावक भीम की भेंट का भव्य स्वागत करके, वाजते - गाजते अपने घर लेकर आता है । परमात्मा की पूजा के इन वस्त्रों को सुयोग्य पवित्र स्थान पर प्रेम से पधरा कर, नित्य इन का दर्शन करता है । यह भेंट शुभ भावना को जागृत करने में निमित्त बनी है ।

महामंत्री पेथडशा ने इस भेंट का निमित्त पकड़ लिया । वह मात्र इनका दर्शन करता था, पहनता नहीं । नित्य शुभ भाव से दर्शन ही करता । एक दिन उसकी पत्नि प्रथमिणी ने पूछा :-

'' स्वामिनाथ ! भेंट में आए पूजा के इन वस्त्रों को आप पहनते क्यों नहीं ? ''

महामंत्री ने कहा :- ''देवी ! यह भेंट ब्रह्मचारी के लिए है । मैं ब्रह्मचारी नहीं हूं, अतः मेरे द्वारा इसका उपयोग कैसे हो सकता है ?''

पत्नी विचार में डूब गई । पुनः पुछा :-

'' नाथ ! तो क्या आप ब्रह्मचर्य - व्रत अंगीकार करना चाहते हैं ? ''

'' जब तुम्हारी भावना होगी तब अपन दोनों साथ में ही यह व्रत लेंगे । तुम्हारी भावना क्या है ? मैं जानना चाहता हूं । '' पेथड़शा ने कहा ।

कितनी गम्भीर दृष्टि है पेथड़शा की ! पत्नि के हृदय में ब्रह्मचर्य व्रत लेने की भावना न जागे, तब तक जबरदस्ती करना नहीं चाहता । उसकी संमति बिना यह भी नहीं कहता कि '' मुझे



तो ब्रह्मचर्य लेना है, तेरी भावना हो तो तूं भी ले ले अन्यथा मैं ने तो लेना ही है । तेरी बात तूं जान । " ऐसे उपेक्षित वचन वह नहीं बोलता । ऐसा कह देता तो कदाचित प्रथमिणी विरोधी विचार प्रदर्शित करती ।

वह जानता था कि व्रत लेना सरल है, पर उसके पालन की क्षमता भी होना जरुरी है । युवावस्था में कामवासना का आवेग प्रबल होता है । उस आवेग पर संयम रखना छोटी - मोटी बात नहीं । शुभ भावना को कार्यान्वित करने में जबरदस्ती या शीघ्रता न करो ।

मानना पड़ेगा कि शुभ भावना का प्रभाव उसकी धर्मपत्नी पर पड़ ही गया । एक दिन वह बोली :-

" नाथ ! आपकी भावना उत्तम है । मैं भी ब्रह्मचर्य व्रत लेना चाहती हूं । आप अपनी पवित्र भावना साकार करो । "

पत्नी की यह बात सुनकर पेथड़शा को कितना आनंद हुआ होगा, यह हम अनुभव कर सकते है । साथ में प्रथमिणी के आनंद और प्रसन्नता की तो बात ही क्या ? पति की प्रसन्नता में ही उसकी प्रसन्नता समाई थी । पति पत्नी दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया । स्वाभाविकता से व्रत पालन कैसे हो, इस पर चिंतन मनन करने लगे । ब्रह्मचारी का जीवन व्यवहार कैसा होना चाहिए, इसके लिए ज्ञानी पुरुषों से मार्गदर्शन लिया ।

बत्तीस (३२) वर्ष की भर युवावस्था में ब्रह्मचर्य व्रत लेना, कोई सामान्य बात नहीं । इस दम्पति का समग्र जीवन धर्ममय था । जीवन का प्रत्येक व्यवहार प्रत्येक कर्म और क्रिया, धर्म के गाढ़ रंग से रंगे हुए थे । राजा से लेकर अपने घर के दास-दासी तक,



सबके साथ उसका व्यवहार औचित्यपूर्ण था । महामन्त्री जैसे ऊंचे हौदे पर होने पर भी उसे सत्ता का घमण्ड या मोह न था । सुन्दर निरोगी देह होने पर भी विषय वासना न थी । विलक्षण प्रतिभावान राजपुरुष होने पर भी राज्य और राजा के प्रति निष्ठा थी । सुन्दर स्वरुपवान पत्नी होने पर भी वह ब्रह्मचर्य व्रत का उपासक बन गया था । ऐसा व्यक्तित्व होने के कारण ही वह अभय था । अद्वेषी और अखिन्न था । उसके जीवन में कई उपाधियां आई पर वह कभी भयभीत न बना । दोषी के प्रति भी द्वेषी न था ।

एक बार महामंत्री अकारण ही एक आफत में फंस गया । घटना इस प्रकार बनी :-

मालव नरेश ने उसे सवा लाख के मूल्य वाला एक वस्त्र दे रखा था । महामंत्री इस वस्त्र को परमात्मा की पूजा के लिए पहनता था । उस वस्त्र में ऐसा प्रभाव पैदा हो गया था, किसी को कैसा भी बुखार आ गया हो, वह इस वस्त्र को ओढ़े तो तुरन्त बुखार उतर जाता था । महामंत्री की पत्नी इस वस्त्र के प्रभाव को जानती थी । महामंत्री के अणिशुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पालन का यह प्रभाव था ।

राजकुटुंब के साथ महामंत्री के कुटुंब का संबंध होना स्वाभाविक था । मालव नरेश की दो रानियां थीं । एक का नाम था लीलावती - दूसरी का कदम्बा । राजा को लीलावती पर अधिक प्रेम था । इसलिए कदम्बा को लीलावती से ईर्ष्या रहती । वह अंदर ही अंदर जलती रहती । लीलावती को व कदम्बा के प्रति जरा भी दुर्भाव न था । तो भी कदम्बा लीलावती को देख कर जलती रहती । राजा लीलावती को क्यों ज्यादा चाहता है ?'' यह सहन नहीं होता था उससे ।



" लीलावती के प्रति राजा का अभाव हो जाए तभी राजा के मन में मेरे प्रति प्रेम उभरे । अन्यथा राजा का प्रेम मुझे प्राप्त नहीं हो सकता । पति प्रेम बिना जिंदगी में क्या ? "

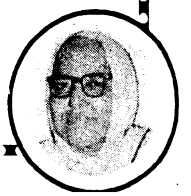
यही सोच कर वह लीलावती में दोष खोजती रहती । वह जानती थी कि जब तक राजा लीलावती का कोई बड़ा दोष नहीं देखेगा तब तक उसका प्रेम कम होने वाला नहीं । दोषदर्शन से प्रेम मरता है । राजा का प्रेम प्राप्त करने के लिए वह दूसरे के जीवन में आग लगाना चाहती है । राजा को लीलावती के प्रति घृणा हो जाए, ऐसा दोष ढूंढती रहती है ।

एक दिन रानी लीलावती को बुखार आ गया । एक दिन आया, दूसरे दिन उतर गया । ऐकांतरे बुखार आने लगा । राजा ने बहुत उपचार कराया, परंतु बुखार उतरता ही नहीं । राजा और समग्र राजपरिवार चिन्ता में डूब गया । रानी का शरीर सूखने लगा । वैद्य भी निराश हो गए ।

एक दिन लीलावती की दासी, प्रथमिणी को मिलने और लीलावती को समाचार देने, महामंत्री के घर गई । दासी का चेहरा उदास था । प्रथमिणी ने उदासी का कारण पूछा तो दासी रो पड़ी । रोते रोते बोली :- महारानी जी को बहुत दिन से बुखार आ रहा है । कोई भी दवाई काम नहीं करती । राजा खूब चिंतातुर हैं । रानी का शरीर सूख रहा है । क्या करें ..... ? "

प्रथमिणी ने खूब शांति से सब बात सुनी । थोड़ी देर सोच कर सहानुभूति से वह बोली :- " बुखार उतारने का एक उपाय मेरे पास है ।"

दासी की आंखों में चमक आ गई । बोली :- " है आपके



पास ? तो बता दो जल्दी ! आपका बहुत उपकार होगा । ''

कहते कहते प्रथमिणी को आलिंगन में ले लिया । प्रथमिणी ने कहा :- ''सुन, महामंत्री, परमात्मा की पूजा के लिए जो वस्त्र पहनते हैं, वह वस्त्र ओढ़ कर रानी यदि सो जाए तो जरुर उसका बुखार उतर जाएगा । ध्यान रखना, ज्वर आने से पूर्व वह वस्त्र ओढ़ लेना चाहिए ।''

''देवी ! क्षण मात्र विलंब किए बिना मुझे वह वस्त्र देने की कृपा करो । जा कर तुरन्त रानी मां को वह वस्त्र दे दूंगी । आपके मार्गदर्शन अनुसार करने को कह दूंगी ।'' दासी नम्रता से बोली ।

प्रथमिणी ने तुरन्त ही वह सवा लाख रुपए मूल्य वाला वस्त्र दासी को दे दिया । परोपकार की पुतली ने महामूल्यवान वस्तु की अपेक्षा चेतन आत्मा का महत्व अधिक समझा । रानी की वेदना सुन कर मंत्री पत्नी का हृदय भर गया । उसने करुणा से सवा लाख का कीमती वस्त्र बिना विलंब दे दिया ।

'' यह वस्त्र वापिस नहीं आया तो ? दासी ही बीच में यह वस्त्र कहीं गायब कर दे तो ? पति पूछेंगें तो .... ? ''

ना, ना, ऐसा कोई विचार, कोई भय मंत्री पत्नी को छू भी न गया ।

दासी, देवताई वस्त्र ले कर दौड़ी राजमहल में । रानी लीलावती के पास जाकर वह वस्त्र बताया । उसकी महिमा कही । जो कुछ प्रथमिणी ने कहा था, सब बता दिया । रानी को भी महामंत्री पर श्रद्धा थी । उसके मन में विश्वास बैठ गया । ज्वर आने का समय हुआ, तब रानी वह वस्त्र ओढ़ कर सो गई । ज्वर आया ही नहीं । दासी नाच उठी । राजमहल में आनंद आनंद छा गया । मात्र



कदम्बा को आनंद न हुआ । कैसै हो उसे आनंद ! जिसके प्रति व्यक्ति को ईर्ष्या हो उसे दुखी देखकर वह आनंद मानता है । उसके सुख में ईर्ष्यालु खड़ा खड़ा ही जलता रहता है ।

लीलावती को ज्वर आया ही नहीं, महामंत्री के वस्त्र के प्रभाव से यह सब कुछ हुआ - कदम्बा को जब यह पता चला तो उसके मन में भयंकर विचार आया । वह सीधी पहुंची महाराजा के पास । गम्भीर चेहरा बना कर राजा से बोली :-

"महाराजा ! गम्भीर बात करने आई हूं । आप शायद मेरी बात न भी मानो । खैर, मानो न मानो, आपकी मर्जी । पर मेरा तो फर्ज है आप को सत्य हकीकत से जानकार करना ।"

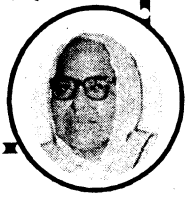
राजा ने कहा :- "ऐसी वह क्या बात है ? जल्दी बोल ।"

" आप मेरे पर नाराज न होना । आप को पता नहीं होगा कि लीलावती महामंत्री के प्रेम में है । " कदम्बा एक श्वास में बोल गई ।

एक भंयकर आक्षेप सुनकर राजा क्रोधित हो गया । वह बोला :- " तु उससे ईर्ष्या करती है, इसी लिए ऐसा असत्य आक्षेप कर रही है । क्या प्रमाण है तुम्हारे पास इसका ? "

कदम्बा :- " मुझे पता ही था कि मेरी बात आप असत्य ही मानेंगे । पर मेरे प्रिय प्राणनाथ ! मेरे पास इसका सबूत है । प्रमाण बिना आपके सामने मैं बात करती ही नहीं । आप अपनी सगी आंखों से देखो तो सही जाकर, आपकी प्रिय रानी महामंत्री के विरह में उसका पहना हुआ वस्त्र ओढ कर सो रही है । प्रेम का इससे विशेष प्रमाण दूसरा क्या हेा सकता है ? "

लीलावती या दासी ने महामंत्री के पूजा-वस्त्र की बात राजा से की नहीं थी । शीघ्रता में भूल हो गई । राजा ने कदम्बा की



बात मान ली । वह अपनी नजरों से, वह वस्त्र देखने, लीलावती के भवन तरफ चला । कदम्बा अपने निवास पर चली गई, राजा के मन में तूफान मचा कर । राजा की कल्पना में महामंत्री और लीलावती विचरने लगे । राजा को दोनों के चारित्र पर विश्वास था पर कदम्बा की बात ने शंका पैदा कर दी । मनुष्य के पाप कर्म का उदय हो तो अकारण ही अनायास भूल हो जाती है ।

राजा पहुंचा लीलावती के निवास खण्ड में । उस समय लीलावती सो रही थी । महामंत्री का वस्त्र ओढ़ा हुआ था । राजा ने यह वस्त्र पहचान लिया :- " यह तो मैं ने ही महामंत्री को भेंट दिया था । महामंत्री ने यह वस्त्र रानी को दे दिया ? इतना कीमती वस्त्र मंत्री ने रानी को भेंट दे दिया ? इसका अर्थ क्या ? " बस राजा का कोप पहुंचा सातवें आसमान पर । बिना कुछ कहे सुने वह वापिस आ गया अपने निवास स्थान में । कदम्बा की बात राजा के मन में दृढ़ हो गई । उसने महामंत्री या लीलावती को कुछ पूछना ही उचित नहीं समझा । उन दोनों के लिए राजा के मन में असत्य धारणा घर कर गई ।

अज्ञानी और कम बुद्धि वाले व्यक्तियों की यही दशा होती हे । उसमें भी जब ऐसे लोग नायक हों, सत्ता स्थान पर बैठे हों, तब तो महा अनर्थ हो जाता है । ऐसे लोग छोटों को खिलौना समझ कर मनमाने ढंग से उसके साथ खेलते हैं । राजा के लिए रानी, मात्र भोग का खिलौना थी । राजा ने लीलावती को इतना पूछने की तकलीफ न की कि "महामंत्री का वस्त्र तेरे पास कैसे आया ?" महामंत्री को बुलाकर न पूछा कि "मेरा दिया सवा लाख का वस्त्र कहां है ?" इतना भी पूछा होता तो सत्य बात का पता चलता और पवित्र आत्मा अन्याय से बच जाती ।

महामंत्री पेथड़शा पर राजा को कितना विश्वास था ! राजा



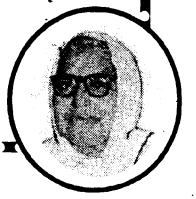
जानता था कि पेथड़शा ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है । ब्रह्मचारी महामंत्री के लिए प्रजा को भी खूब सद्भाव है, तो भी मंत्री को दुराचारी मान लिया । मात्र एक वस्त्र के कारण ! मंत्री का वस्त्र रानी के पास देख कर, राजा को इतना भी न सूझा कि रानी का ज्वर कैसे उतर गया, यह तो पूछे । जिस रानी के प्रति उसे अनहद प्रेम था, उस रानी को भी व्यभिचारिणी मान लिया । क्या इसी का नाम है संसार ? क्षण मात्र में राग, द्वेष में बदल आए और द्वेष, राग में बदल आए ? राजा का मन तीव्र द्वेष से भर गया । महामंत्री और महारानी को कठोर से कठोर सजा फटकारने के लिए वह सोचने लगा परंतु महामंत्री को सजा देने की राजा में हिम्मत न थी । क्योंकि राजा तो नाम का राज्य करता था । सर्वे सर्वा तो पेथड़शा ही था । " निर्बल को सब सताते हैं बलवान से सब डरते हैं " प्रायः दुनियां का यह नियम है । राजा की दृष्टि में महामंत्री बलवान था, रानी निर्बल !

राजा ने लीलावती को बुला कर सजा सुनाई :-

" मेरे राज्य में से तू दूर निकल जा । अपना मुंह भी मुझे दिखाना नहीं । "

महामन्त्री की हाजरी में ही राजा ने यह सजा फटकारी । राजा ने सोचा होगा, "महामन्त्री रानी के प्रेम में है, अतः इस सजा से वह भी रानी के साथ राज्य छोड़ देगा ।" मनुष्य कैसी भ्रमणाओं में भटकता है । राजा को महामन्त्री के आन्तरिक व्यक्तित्व की क्या जानकारी ? महामन्त्री रानी की सजा सुन कर मौन रहा, एक शब्द न बोला ।

लीलावती की दासी चतुरा को इस सारे बनाव का पता चल गया था । कदम्बा के निवास स्थान से महामन्त्री और लीलावती के प्रेम की असत्य बात फैलाई गई थी, यह वह जान गई थी ।



तुरन्त ही वह मंत्री का वस्त्र लेकर प्रथमिणी के पास पहुंची और राजमहल की सारी करुण कथा कहते ध्रुस्के-ध्रुस्के रो पड़ी ।

"मै ने तो रानी के हित के लिए यह उपचार किया था परन्तु रानी मां महान आपत्ति में फंस गए । साथ ही पवित्र महामन्त्री पर भी कलंक आया ।"

प्रथमिणी ने दासी को आश्वासन दिया । चिन्ता नहीं करने को, समझाया । परन्तु अन्दर से प्रथमिणी के हृदय में खलबली मच गई थी । नाराज राजा क्या नहीं कर सकता । आश्रितों का वह कैसा बेहाल कर सकता है, यह प्रथमिणी अच्छी तरह जानती थी । उसके मन में जरा भय घूमने लगा । चिन्ता भी होने लगी ।

इतने में महामन्त्री हवेली में आया । वह शान्त तथा स्वस्थ था । उसका चेहरा निराकुल और निर्विकार था । उसे प्रतीति हो गई थी, "राजा मेरे पर नाराज है और मेरे पर घोर कलंक चढाया है ।" परन्तु उसने अपने मन पर इस का असर न होने दिया ।

दासी चतुरा चली गई । महामन्त्री ने प्रथमिणी के सामने देखा । प्रथमिणी पति के चरणों में बैठ गई । उसकी आंखों में आंसू छलक पड़े :- "मेरे निमित से मेरे पति पर कलंक आया, रानी पर कलंक आया..... इस बात का उसे दुःख था ।"

महामन्त्री ने प्रथमिणी से कहा :- "किसलिए रो रही है ? क्यों चिन्ता करती है ? निष्कलंक होने पर भी कलंक आया है, यह मेरा पूर्वभव के कोई पाप का फल है । किसी भव में मैं ने किसी अकलंक जीव पर कलंक दिया होगा । अब उस पाप का फल समता से भोगना चाहिए । चिन्ता न कर, देवि ! अपने हृदय



में धर्म है । धर्म ही रक्षक है । धर्म के चरणों में हम अभय हैं । राजा का क्या दोष ? मेरे पापकर्म ने राजा को निमित बनाया है । देवि, राजा पर जरा भी रोष न करना ।''

प्रथमिणी पति के वाणी प्रवाह में और विचार प्रवाह में बहती गई । मानो गंगा के प्रवाह में बह रही हो । दुःख के आंसू हर्ष के आंसुओं में बदल गए । न कोई भय ! न कोई द्वेष ! मन्त्री पद चले जाने का भी कोई भय न था । मिथ्या कलंक देने वाले राजा या कदम्बा रानी के प्रति कोई भी द्वेष न था ।

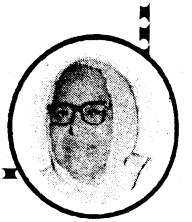
प्रथमिणी को एक दूसरा विचार आया और उसके चेहरे पर उद्वेग छा गया । उसने पति से कहा :-

''स्वामिनाथ ! बेचारी निर्दोष लीलावती का क्या होगा ? राजा ने तो उसे देशनिकाला दिया है नं ? वह अब कहां जाएगी ?''

महामन्त्री इसी प्रश्न की प्रतीक्षा में था । उसने पूछा :- ''देवि ! तुम ही बताओ । महारानी को बचाने के लिए अपने को क्या करना चाहिए ।''

प्रथमिणी ने कहा :- ''मैं आपको क्या बताऊं ? आप ही ऐसा कोई उपाय विचारो कि जिससे महारानी जंगली पशुओं का शिकार न बन जाए । मुझे तो उसकी बहुत दया आती है । उस पवित्र अबला को आप ही बचा सकते हो । कितनी छोटी आयु में उस बेचारी पर यह महादुःख आ पड़ा ! आप उसे किसी भी रीति से बचा लो ।'' प्रथमिणी का मन भर गया ।

महामन्त्री के मन में तो रानी के बचाव की योजना तैयार ही थी । परन्तु योजना को पूरा करने के लिए प्रथमिणी की सम्पूर्ण



और सहर्ष सहमति अनिवार्य थी, क्योंकि वह योजना बहुत जोखमी थी । महामन्त्री बोला :- "देखो देवि ! रानी को तुम ही सुरक्षित रख सकती हो । गुप्त रीति से तुम रानी को अपनी हवेली के भोंयरे में रखो । कलंक दूर होने पर रानी अपने महल में चली जाएगी । बोलो, है तुम्हारी इस काम के लिए तैयारी ?" महामन्त्री ने इतना कह कर पत्नी तरफ देखा । जिस रानी पर, महामन्त्री के प्रेम में होने का आरोप है, उसे अपने ही निवास स्थान पर आश्रय देना, कोई ऐसा वैसा साहस नहीं था । बहुत बड़ी हिम्मत थी । तथापि प्रथमिणी ने जरा भी अचकचाहट विना निःसंकोच *इसके लिए सम्मति दी । पति पर पत्नी का कैसा अविचल* विश्वास !

यह प्रसंग इसका ज्वलन्त उदाहरण है । मेरा पति नैष्ठिक ब्रह्मचारी है । इसके मन में कहीं भी विषय विकार नहीं । ऐसा निःशंक विश्वास प्रथमिणी का पति पर था । पेथड़शा ने भी कैसा अविचल विश्वास संपादन किया होगा ?

पति पत्नी का सदाचारी जीवन अपने आर्यदेश की संस्कृति है । सदाचारी और परस्पर वफादार पति-पत्नी की ही सन्तान आर्य संस्कृति की संवाहक और मोक्षमार्ग की आराधक बन सकती है । पेथड़शा और प्रथमिणी का एक ही सुपुत्र था झांझणशा । कैसा था वह पुत्र ! जैसा बाप वैसा बेटा ! पेथड़शा जैसा ही सुशील, दानवीर परमात्मभक्त और गुणवान, श्रद्धावान और चारित्रवान ।

पेथड़शा और प्रथमिणी के संबंध कितने पवित्र होंगे ! एक दूसरे के लिए कितना विश्वास होगा ! महामन्त्री ने गुप्त मार्ग से लीलावती को अपनी हवेली में लाकर उसकी सारी जिम्मेदारी

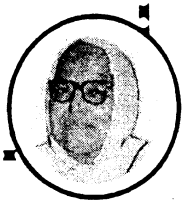


प्रथमिणी को सौंप दी । अभय, अद्वेष, अखेद की जीवंत मूर्ति पेथड़शा, वास्तव में धर्मात्मा था ।

मांडवगढ की महारानी लीलावती को अपनी हवेली के भोंयरे में गुप्तरीति से रखा; तब महामन्त्री पेथड़शा ने लीलावती को, जो छोटी सी धर्माराधना वताई, वह थी श्री नवकार मन्त्र के जाप की ! क्योंकि रानी का हृदय अत्यन्त व्यथित था । अपने दुख से ही व्यथित था, ऐसा नहीं, "मेरे निमित से मन्त्री पर कलंक आया, अभी भी न जाने कितने कष्ट, मेरे कारण मन्त्री पर आएंगें ? मेरी सुरक्षा के लिए मन्त्री ने कितना बडा दुःसाहस किया ? मुझे अपनी हवेली में गुप्तपणे लाया । राजा यदि जान जाएगा तो ? लीलावती भय से कांप उठी । उसने निर्णय कर लिया :- "अव मुझे नहीं जीना । आत्महत्या करके मर जाउंगी मैं तो ।"

और लीलावती आत्महत्या करने का प्रयास कर ही रही थी कि उसी समय प्रथमिणी ने भोंयरे में प्रवेश किया । आत्महत्या करते उसे पकड़ लिया । "ऐसा अकार्य क्यों कर रहीं हो, बहन ? आत्महत्या करने से सभी दुखों का अन्त नहीं आता । समता भाव से भोग कर ही दुखों का अन्त आ सकता है । आप कुछ चिन्ता न करो, बहन ! यहां आप एकदम निर्भय हो । यहां कोई दुख नहीं होगा ।"

प्रथमिणी ने प्रेम से लीलावती को आश्वासन दिया । लीलावती बोली :- " मैं ऐसा कलंकित जीवन जी नहीं सकूंगी । ऐसा बदनाम जीवन, जीने से तो मर जाना श्रेष्ठ । और मुझे अपने से भी अधिक दुःख तो महामन्त्री का हो रहा है । मेरे निमित, वे भी कलंकित बने ! उन पर भी दोषारोपण हुआ; कैसी पवित्र और प्रमाणिक आत्मा ! परन्तु मेरे पापोदय के कारण उसे भी बदनाम



होना पड़ा.....''

इस प्रकार बोलते वह रो पडी । प्रथमिणी का हृदय भी भर गया । उसकी आंखें भी भीनी हो गई । रानी ने गले लगा कर प्यार से पीठ पर हाथ फेरते कहा :- ''बहन, रो मत । तूं तो निष्कलंक है । महामन्त्री भी निष्कलंक है । पूर्व जन्म का कोई पाप, उदय में आने से ही यह कलंक आया है, परन्तु पाप कर्मो का क्षय होने से आप दोनों निष्कलंक सिद्ध होंगे । तो बहन ! पाप कर्मो का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ करो । इसी ही लिए महामन्त्री ने कहा है कि, ''विधिपूर्वक श्री नवकार मन्त्र की आराधना इस भोंयरे में करना ।'' मैं भी तुझे इसमें सहयोग दूंगी, पर बहन ! भयमुक्त बन कर नवकार मन्त्र की आराधना करना । द्वेष मुक्त बनकर जाप करना, तथा अप्रमत्तभाव से - थकावट बिना - इस मन्त्र का रटण करना । इस मन्त्र का ध्यान धरना । राजा का भय नहीं रखना, साथ ही राजा के प्रति मन में कोई द्वेष या रोष न करना ।

प्रथमिणी की स्नेहभीनी वाणी सुनकर लीलावती को शान्ति मिली । उसने प्रथमिणी में धर्मश्रद्धा की ज्वलंत ज्योति के दर्शन किए । उसे राहत मिली । वह स्वस्थ बनी और प्रथमिणी से नवकार मन्त्र के बारे अधिक जानने को उत्सुक बनी । प्रथमिणी निर्भय थी, तो लीलावती को निर्भय कर सकी । यदि वह स्वयं भयभीत होती तो लीलावती को अपनी हवेली में रखती ही नहीं । प्रथमिणी के हृदय में अपार दया और करुणा उभरती थी । अन्यथा उसका हृदय लीलावती के लिए द्वेष से जल उठता । वह सोचती, ''इस रानी के कारण ही महामन्त्री पर यह कलंक आया ।'' प्रथमिणी के हृदय में दुखी के प्रति सहानुभूति भी थी । दुखी के दुख को दूर करने का यदि उत्साह



न होता तो वह सोचती :- रानी जाने, रानी का काम जाने । रानी की बात में मुझे पड़ने की क्या जरुरत ? अपना किया वह स्वयं भोगे । उसके कारण मैं क्यों उपाधि में पड़ूं ?"

प्रथमिणी नें लीलावती को अभय, अद्वेषी बना दिया, क्योंकि उससे नवकार मन्त्र की आराधना जो करानी थी । ऐसी आराधना करानी थी कि जिससे अल्प समय में ही उसका प्रभाव दिखाई दे ।

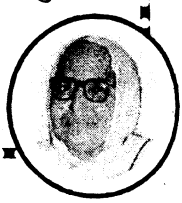
प्रथमिणी चाहती तो लीलावती को कह देती कि "तुझे अपना कलंक दूर करना है तो नवकार मन्त्र का जाप करना । तेरा पुण्योदय होगा तो कलंक दूर हो जाएगा । पापोदय होगा तो तुझे भोगना पड़ेगा । मेरा कर्तव्य है अतः तुझे कहती हूं, तुझे ठीक लगे तो नवकार का जाप करना ।"

इतना कह कर प्रथमिणी अपना कर्तव्य पूरा हुआ, मान लेती तो क्या लीलावती स्थिर और निर्मल चित्त से नवकार मन्त्र की आराधना कर सकती ?

(विशेष समझने की बात है । दुखी व्यक्ति को मात्र उपदेश देने से धर्माभिमुख नहीं बनाया जा सकता । पहले उसके साथ मैत्री करो, उसे भयमुक्त करो । उसके मन में से द्वेष दूर करो । उसे आराधना के लिए उत्साहित करो । फिर उस दुखी जीवात्मा को धर्म का उपदेश दो तो वह उपदेश उसके हृदय में उतरेगा और धर्माराधना करने को तत्पर तथा शक्तिमान बनेगा ।)

उत्साह और उमंग से लीलावती ने प्रथमिणी से नवकार मन्त्र की आराधना - विधि पूछी तो वह बोली :-

"आप यहीं पर श्री पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति समक्ष श्री नवकार मन्त्र का जाप करना । शरीर शुद्धि करके, श्वेत शुद्ध वस्त्र



पहन कर, श्वेत रंग की माला से, पूर्व दिशा तरफ मुख करके, पद्मासन लगा कर के, एकाग्र चित्त से जाप करना, जाप से तल्लीनता आएगी । एक-एक नवकार का जाप करते-करते एक-एक श्वेत पुष्प प्रभु के चरणों में धरते जाओ । रोज श्वेत वर्ण के द्रव्यों से एकासना करना । दिन में मात्र एक बार ही भोजन करना । इस तरह एक लाख नवकार का जाप पूर्ण करना ।''

प्रथमिणी ने लीलावती को सब विधि समझा दी । क्योंकि लीलावती के लिए आराधना का यह प्रथम ही अवसर था । श्री नवकार मन्त्र के प्रति उसे श्रद्धा जागी । क्योंकि उसे प्रथमिणी के प्रति और महामन्त्री के प्रति विश्वास था । महामन्त्री ने ब्रह्मचर्य व्रत के अचिन्त्य प्रभाव का अनुभव किया था । लीलावती ने आराधना आरम्भ की । एकाग्र मन से, शुद्ध तन से, नवकार मन्त्र का जाप और ध्यान करने लगी । नित्य प्रति उसका उल्लास बढता गया । कई बार जाप करते, उसकी आंखों से हर्ष के आंसू भी बहने लगते । पंच परमेष्ठी के लिए उसका भक्ति-भाव उछलने लगा । प्रथमिणी रोज लीलावती को मिलती है । पूर्ण गम्भीरता से समय व्यतीत हो रहा था ।

महामंत्री पेथड़शा भी पूर्ण स्वस्थता से अपनी दैनिक धर्माराधना में लीन रहता है । महामंत्री के साथ राजा कोई व्यवहार नहीं रखता । पर महामंत्री अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करता है । प्रजा की पूरेपूरी सहानुभूति महामंत्री के प्रति है । सभी अति आतुरता से प्रतीक्षा में हैं कि ''महामंत्री कब निष्कलंक प्रकट हो। कोइ दिव्य घटना घटनी चाहिए, कोइ चमत्कार होना चाहिए।''

महामंत्री का व्यक्तित्व कैसा और कितना उत्तम होगा ! उसका विचार करें । किसी को भी उस के चारित्र के लिए शंका नहीं । प्रजा का कितना प्रेम महामंत्री ने सम्पादन किया होगा ? महामंत्री के तन - मन - अंतर पर कोई तनाव न था, जब कि



प्रजा तनाव अनुभव कर रही थी ।

एक दिन .....

इस तनाव का अन्त आ गया । राजा का पट्ट हस्ति स्तम्भ तोड़कर पागल हो कर, सारे नगर मे तूफान मचाते, शहर से बाहर भाग गया । उसे पकड़ने के लिए सैनिक भी पीछे पीछे भाग रहे थे । हाथी एक घटादार वृक्ष के नीचे पहुंचकर बेहोश होकर गिर पड़ा । राजा ने यह समाचार सुना तो वह दौड़कर पहुंचा, हाथी के पास । राजा को यह हाथी अति प्रिय था । हाथी को बेहोश देखकर वह गमगीन बन गया । उसकी आंख में पानी आ गया । कैसा पशुप्रेम ? इस पशुप्रेम ने राजा को रुलाया । नगर के सभी तांत्रिक - मांत्रिक बुलाए गए । प्रयोग शुरु हुए तो पता चला कि हाथी के शरीर में किसी व्यंतर देव का प्रवेश हो गया है । उस व्यंतर को निकालने के लिए मांत्रिकों के मंत्र और तांत्रिको के तंत्र, सब कुछ निष्फल बने । राजा उनसे बोला :- " तुम लोग कैसे भी इस हाथी को सजीवन करो । आपको मुंह मागा ईनाम दूंगा । यदि हाथी सजीवन न कर सकोगे तो मैं भी अग्निस्नान करुंगा ।"

सब चिन्ता में पड़ गए । राजा के अग्निस्नान की घोषणा से अन्तःपुर में रानियां रोने लगीं । हाथी को सजीवन करने का उपाय किसी को सूझता नहीं । सभी निराश और हताश बन गए । राजा के आस पास अनेक दास दासीयां चिन्तामग्न खडीं थीं । रानी लीलावती की दासी चतुरा भी उपस्थित थी ।

चतुरा के मन में बिजली की भांति विचार चमका " महामंत्री पेथडशा का पवित्र पूजन - वस्त्र हाथी पर ओढाया जाए तो वह जरुर सजीवन हो जाएगा । उस के प्रभाव से व्यंतर, हाथी का शरीर



छोड़कर भाग जाएगा । मेरी रानी का ज्वर भी इसी वस्त्र से उतर गया था, तो अवश्य हाथी भी उपद्रव रहित हो जाएगा । " पर राजा को कहना किस तरह ? उसके हृदय में तो महामंत्री के प्रति द्वेष और रोष है । इसी वस्त्र के कारण राजा ने पतिव्रता रानी को अनाचारी और महामंत्री को दुराचारी माना है । "

तथापि चतुरा ने महाराजा के सामने अपने मन की बात साहस करके कह दी, " महाराजा ! मुझे एक उपाय सूझा है । आप आज्ञा करो तो हाथी को ठीक करने का उपाय बताऊँ । " राजा ने चतुरा के सामने देखा । राजा की दृष्टि में चतुरा ने जिज्ञासा देखी । उसने तुरंत अपने मन की बात राजा को कह सुनाई ।

राज क्षणभर नाराज हुआ । दृष्टि टेढ़ी की, परंतु मना न किया । मौन रहा । मौन का अर्थ है, अनुमति । " मौनं स्वीकृति लक्षणम् " चतुरा तुरंत दौड़ती हुई पहुंची महामंत्री की हवेली पर । वहां पहुंच कर बिना श्वास लिए शीघ्रता से प्रथमिणी से बोली :- " देवी ! महामंत्री को निष्कलंक सिद्ध करने का एक उत्तम अवसर आया है । रानी लीलावती भी निष्कलंक घोषित हो सकती है ।" प्रथमिणी उत्सुकुता से उसकी हालत देख रही थी, पूछा :- "चतुरा ! क्या हुआ ? कैसे कलंक दूर होगा ?"

चतुरा ने हाथी के बारे में बात की और राजा से जिस ढंग से वस्त्र बारे पूछा था, अक्षरशः सब बात बताई । फिर बोली :- " आप कृपा करके महामंत्री जी का वस्त्र मुझे दे दो । मुझे श्रद्धा है कि वस्त्र के प्रभाव से हाथी निश्चित स्वस्थ होगा । तब महाराजा को अपनी भूल समझ आएगी । महामंत्री के प्रति उसे सद्भाव पूर्ववत् जागृत होगा । रानी के लिए भी वह निःशंक बनेगा । अतः आप मुझे निश्चिंत अविलम्ब देने की कृपा करें ।



चतुरा के हृदय में महारानी और महामंत्री को निष्कलंक सिद्ध करने की तमन्ना है । क्योंकि दोनों के लिए उसके मन में स्नेह और सद्‌भाव है । गुणवान व्यक्ति को मुसीबत में देखकर उसके अनुरागियों को गहरा दुःख होता है । चतुरा भी ऐसी थी । उसे एक ही विचार दिन रात रहता, : "कोई अवसर ऐसा मिले कि रानी और महामंत्री निष्कलंक सिद्ध हों ।" आज वह अवसर आ गया था ।

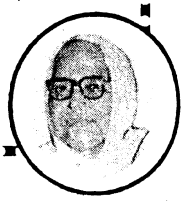
प्रथमिणी को भी चतुरा की बात जंच गई । उस ने भी वह दिव्य वस्त्र श्रद्धा से चतुरा को दे दिया । वस्त्र लेकर वह चली गई । लीलावती अभी अभी ही जाप करके निवृत हुई थी । (८००००) अस्सी हजार जितना जाप हो गया था उसका । प्रथमिणी ने लीलावती के दोनों हाथ प्रेम से पकड़ कर कहा, : " रानी जी, अब आपके दुःख के दिन गए समझो । "

लीलावती बोली :- " मेरे दुःख के दिन तो हैं ही नहीं । मेरे दिन तो अपूर्व सुख में बीत रहे हैं । मेरे जीवन के ये सर्वश्रेष्ठ दिन हैं । श्री नवकार मंत्र के जाप ध्यान में अभूतपूर्व आत्मानंद मिल रहा है मुझे तो । "

" आप की बात सच्ची है, बहन ! पर अभी तो मैं तुम्हे एक अति महत्व का शुभ समाचार देने आई हूं । "

ऐसा कह कर लीलावती को चतुरा से सुनी सारी बात बताई और अंत में कहा :- " अब कलंक गया ही समझो । "

लीलावती को रोमांच हो उठा । हृदय गद्‌गदित हो गया । क्षण भर के लिए वह बोल भी न पाई । स्वस्थ होकर बोली :- " बहन ! प्रथमिणी ! मेरी अंतर की पुकार पंच परमेष्ठी भगवन्तों ने सुन ली । शासन देवता ने मेरी सहायता की । "



" महामंत्री के वस्त्र से हाथी का उपद्रव निश्चित दूर होगा । चतुरा अभी ही यह शुभ समाचार लेकर आई, समझो । "

" महामंत्री को इस वृतांत की जानकारी है क्या ? "

" मैं तो सीधी ही यहां दौड़कर आई हूं । महामंत्री को समाचार अब जाकर दूंगी ।"

इतना कहते प्रथमिणी पति के पास उपस्थित हुई । सब वृतांत कहा । महामंत्री ने स्वस्थ चित्त से सब सुन लिया और फिर कहा :-

" देवी ! पुण्य और पाप कर्म के उदय अनुसार संयोग बदलते रहते हैं । पापकर्मों का उदय पूरा होने पर संयोग अच्छे बनते है । कर्मशास्त्र को जानने वाला हर स्थिति में शांत - स्थिर और संतुलित रहता है । "

महामंत्री का तत्वज्ञान कितना आत्मस्पर्शी था । विपरीत संयोगों में जब कलंक आया तब भी उसका मन विक्षिप्त और विक्षुब्ध न बना था । " मेरी बदनामी हुई । अब मैं क्या मुंह बताऊंगा ? मैं निर्दोष हूं तथापि मुझे कलंकित किया ..... " ऐसे कोई विचार से वह तब भी विचलित न बना था । " मेरा कलंक अब दूर होगा ? " ऐसी भी कोई उत्सुक्ता उसे न थी । न ही राजा के प्रति कोई रोष का भाव जगा था ।

उधर चतुरा, महामंत्री का पूजन - वस्त्र ले कर हाथी के पास पहुंची और पल के भी विलम्ब बिना वह वस्त्र उसने हाथी पर ओढा दिया । राजा और प्रजा सब की आंखें हाथी पर स्थिर हो गई । " क्या इस वस्त्र से हाथी सजीवन होगा ? " सबके मन में यही प्रश्न था । सबके प्रश्न का समाधान करते कुछ ही देर में हाथी का शरीर कांपने लगा । फिर पैर हिलने लगे । यह देखकर राजा

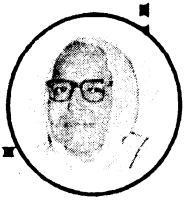


एकदम खड़ा हो गया । उसके चहेरे पर आनन्द छा गया । इसी बीच हाथी की सूंढ उंची हुई, उसने आंखे खोलीं और धीरे धीरे खड़ा भी हो गया ।

हाथी को स्वस्थ देखकर प्रजा ने मंत्री पेथडशा के जयनादों से आकाश गुंजा दिया । चतुरा खुशी से नाच उठी । इसी घटना से, इस चमत्कार से राजा के हृदय में से महामंत्री के प्रति रोष निकल गया । उसने तुरंत ही महामंत्री को आमंत्रण भेजा । महामंत्री राजा का आदेश मिलते ही तुरंत आ पहुंचा । महामंत्री ने राजा को प्रणाम किया । राजा ने महामंत्री के ब्रह्मचर्य व्रत की प्रशंसा की । अति आग्रह भरे प्यार से अपने साथ ही हाथी पर बैठने को कहा । महामंत्री ने विनय से ना कही तो राजा ने अपना पट अश्व मंगवाया । उस पर पेथड़शा को आदर और प्रेम से बिठाया । राज सेवकों को महामंत्री पर छत्र धारण करने और चामर ढुलाने की भी आज्ञा की । इस प्रकार खूब ठाट माट से राजा और महामंत्री नगर में से होते हुए राजमहल में आए । राजाने यहां - राजमहल में महामंत्री के सदाचार की अत्यन्त अनुमोदना करके एक लाख सोनामोहर भेंट दी ।

जीवन परिवर्तनशील है, तो मनुष्य के विचार भी कितने परिवर्तनशील हैं ? राजा के विचारों में परिवर्तन आ गया । महामंत्री के और लीलावती के पाप कर्म अस्त हो गये । सब परिस्थिति बदल गई । राजा अपने महल में गया, तो उसे रानी लीलावती की स्मृति हो आई ।

" ओह, रानी लीलावती के साथ घोर अन्याय हुआ । वह तो बिल्कुल निर्दोष थी, पर आवेश में मैंने कोई भी खोज न की । उसके चारित्र पर सीधी शंका की । महामंत्री जैसे पवित्र महापुरुष बारे भी विचार न किया । उसके चारित्र पर भी कुशंका की । ओह ! हो ! मैं ने कितना अनुचित किया ? अब लीलावती कहां



होगी ? वह तो जंगली पशुओं का शिकार बन चुकी होगी ? क्या हुआ होगा उसका ? जीती या ..... ? ''

रानी के विचार से राजा का हृदय भर गया । अपने किए अन्याय पर पश्चाताप होने लगा । और इसके साथ ही राजा को कदम्बा की याद आई राजा को समझते देर न लगी कि यह सब षडयन्त्र कदम्बा का था । उसके हृदय में से कदम्बा निकल गई । लीलावती के लिए खोदे खड्डे में कदम्बा स्वयं ही पड़ी । किसी के लिए खड्डा खोदने वाले को कुआं तैयार ही मिलता है । थोड़ी देर के लिए चाहे उसे सफलता मिल जाए परन्तु उसका पाप प्रकाश में आते ही वह स्वयं अपने जीवन को अंधकार मय बना देता है दीर्घकाल तक ।

कदम्बा का राजमहल में अब कोई स्थान न था । सबकी नजरों से वह उतर गई । सब की तिरस्कार पात्र बन गई । राजा ने उसे देशनिकाला की सजा दे दी ।

दूसरे दिन पेथड़शा जब राजसभा में गया तब महाराजा आए न थे । अतः वह राजमहल में गया । महाराजा अभी तक शयनखण्ड (Bed-Room) में ही थे । राजा का चेहरा उदास और चिन्तातुर था । महामंत्री ने विनय से पूछा :- ''राजन ! मेरे नाथ ! आप इतने उदास क्यों हैं, किस चिन्ता से आप इतने दुखी हैं ?'' यह प्रश्न सुनते ही महाराजा की आंखों से आंसू टपक पड़े । महामंत्री ने प्रेम से अपने उत्तरीय वस्त्र से आंसू पोंछे ।

थोड़ी देर बाद स्वस्थ होकर राजा बोला :- ''महामंत्री जी ! आप को तो सब ज्ञात ही है । मुझे रानी लीलावती की चिन्ता सता रही है । उस बिचारी का क्या हुआ होगा ?''

महामन्त्री ने आश्वासन देते हुए कहा :- ''राजन् ! आप शांत बनो । स्वस्थ बनो । धीरज रखो । रानी जी कुशल ही होंगीं ।



उनका कुछ भी अहित नहीं हुआ होगा । क्योंकि उनके हृदय में धर्म का वास था । उस धर्म ने जरुर उनकी रक्षा की ही होगी । मैं उनकी तलाश कराता हूं । आप निश्चिंत रहो । साथ में आप एक काम करने की कृपा करो ।''

''क्या काम करुं ? तुम जो कहोगे, करने को तैयार हूं । पर मेरी रानी मिलनी चाहिए ।'' आर्द्र स्वर से राजा बोला ।

''राजन् ! आप को बस एक ही धर्मकार्य करने की विनती करता हूं । महीने में पांच पर्व तिथि (दो अष्टमी, दो चौदश, शुदि पंचमी) आती हैं । इन पांचों तिथियों (पांचों दिन) राज्यभर में कोई भी नागरिक सात में से एक भी व्यसन न सेवे । कोइ मांसभक्षण न करे, दारु न पीए, जुआ न खेले, शिकार न खेले, चोरी न करे, व्यभिचार न सेवे । इतने राज फरमान की घोषणा कर दो । आप देखोगे आपके इस धर्मकृत्य से सात दिन में रानी आप की सेवा में उपस्थित हो जाएगी ।''

राजा ने तुरन्त महामन्त्री की सूचना का अमल कराया । राजा को मंत्री पर विश्वास होने से आशा बंधी ।

महामन्त्री पेथड़शा ने घर जाकर सारी बात सविस्तार पत्नी से कही । सब जानकर प्रथमिणी के हर्ष का पार न रहा । उसने सारी बात लीलावती से की । वह भी हर्षविभोर हो उठी । वह बोली :-

''यह सारा प्रभाव और प्रताप श्री नवकार मंत्र का है । पंच परमेष्ठी भगवन्तों की परम कृपा से ही यह परिस्थिति पैदा हुई है । लाख नवकार का जाप अब पूर्ण होने ही वाला है, वह भी पूर्ण हो जाएगा ।'' तब प्रथमिणी ने कहा, ''अब आप महाराजा की पटरानी बन जाओगी । उनकी विशेष प्रीतिपात्र बन जाओगी, तथापि आप श्री नवकार मन्त्र व परमात्मा को भूल मत जाना ।''



रानी ने कहा :- "प्रथमिणी ! इसे तो अब कैसे भूल सकती हूं । नवकारमन्त्र तो अब मेरे श्वासोश्वास में समा गया है । प्रभु पार्श्वनाथ तो मेरे परम प्रियतम हैं । उनकी मैं सुवर्ण प्रतिमा बना कर रोज भाव से पूजा करुंगी । रात्रिभोजन का भी त्याग करुंगी और बहन, एक बात कहूं ? तुम्हारे उपकार को तो मैं कभी भी भूल न सकूंगी ।" इतना कहकर उसने प्रथमिणी को आलिंगन में ले लिया । प्रथमिणी की आंख में भी हर्ष के आंसु आ गए । वह बोली, "रानी जी ! आप कितनी अच्छी हैं । आप की भावना कितनी पवित्र और मंगल है । आप मुझे भूल जाओगी तो कोई बात नहीं पर जिनधर्म को कभी भूलना मत । मैं ने तो आपका कुछ नहीं किया । धर्म ने ही आपकी रक्षा की है ।"

सात दिन व्यतीत होते देर न लगी । सातवें दिन महामन्त्री ने महाराजा को मंगल समाचार दिया, " राजन् ! रानी लीलावती का पता मिल गया है, वे मेरी हवेली आ गई हैं । आप आज्ञा करो तो महल में ले आऊं ।"

राजा ने तुरन्त कहा :- "ना, मैं ही आपकी हवेली पर आता हूं ।" महामन्त्री और भी खुश हो गया । महाराजा, महामन्त्री की हवेली पर जब आए तो प्रथमिणी ने भव्य स्वागत किया और फिर लीलावती के पास ले गई । रानी को देख कर राजा आनन्दविभोर बन गया । उसने रानी को अति मूल्यवान वस्त्र भेंट दिए और बत्रीश लाख रुपया भेंट दिया । खूब सन्मान सहित रानी को राजमहल में ले आए ।

लीलावती, प्रभु पार्श्वनाथ की सोने की प्रतिमा बनवा कर रोज जिनपूजा करने लगी । पानी छान कर पीती । रात्रिभोजन नहीं करती । धर्ममय जीवन बिताती है । राजा ने लीलावती को पटरानी का पद दे दिया ।



धर्म के प्रभाव से उसका दुःख दूर हुआ, सुख मिला, कीर्ति मिली और उसकी आत्मा विशुद्ध बनी ।

पेथड़शा और प्रथमिणी के उपकार को वह भूली नहीं । पेथड़शा का जीवन धर्ममय था, तो उसके जीवन का प्रभाव रानी पर पड़ा । महामंत्री की वाणी ही नहीं, उसका जीवन बोलता था ।

देवगुरु और धर्म के प्रति ऐसी ही श्रद्धा होनी चाहिए ।

धन्य है, ऐसे महात्मा महामंत्री पेथडशा को, जिसने अपने SHOW-CASE में पूजा के वस्त्र रखे । नित्य दर्शन से ब्रह्मचारी बना और आत्म कल्याण किया । पेथडशा के ऐसे प्रेरक जीवन से प्रेरणा लेकर हमें भी अपने SHOW-CASE में नित्य किस वस्तु के दर्शन करने हैं : वह विचार कर लेना ।

मानव ज्यों-ज्यों बुद्धिमान बनता है
त्यों त्यों विनाश के मार्ग पर
अधिक पहुंच रहा है ।

माना कि तुम बड़े हो, इसका अर्थ यह तो नहीं कि तुम छोटों के अस्तित्व को ही भूल जाओ ।
प्राय : प्रत्येक इमारत की नींव में बड़े पत्थरों के साथ छोटे कंकरों को इसलिए डाला जाता है कि कहीं वे बड़े पत्थर इधर उधर लुढ़क न जाएं ।



★ "आर्द्र कुमार" ★

इस भरतक्षेत्र में समुद्र के किनारे आर्द्रक नाम का यवन देश है । उसमे आर्द्रक पुर नाम का नगर है । वहां आर्द्रक नाम का राजा राज्य करता था । उसके आर्द्रका नाम की पटरानी थी । उनके आर्द्र नाम का पुत्र था । वह क्रम से यौवनावस्था को प्राप्त हुआ ।

उस आर्द्रक राजा की श्रेणिक राजा के साथ परम्परागत गाढ़ प्रीति थी । एक बार राजा श्रेणिक ने बहुत सी वस्तु भेंट स्वरुप तैयार कर के आर्द्रक राजा के पास अपना खास मन्त्री भेजा । वह मन्त्री कई दिन के सफर बाद आर्द्रक नगर पहुंचा । वहां पर आर्द्रक राजा ने अति आदर के साथ सम्भाषण करके श्रेणिक द्वारा प्रदत्त भेंट को ग्रहण किया और पूछा :-

"मेरा भाई, श्रेणिक राजा कुशल है नं ! प्रजा में भी सब तरह से आनन्द है नं !"

तब मन्त्री ने भी वहां के सम्पूर्ण कुशल - समाचार सुनाए । सुन कर राजा ने परम आनन्द सम्पादन किया । उस समय वहीं पर आर्द्रकुमार भी बैठा था । उसने पूछा :-

"पिता जी ! वह श्रेणिक कौन है ? जिसके साथ आपकी प्रीति है ।"

तब राजा बोला :-

"वह मगधदेश का राजा है । उसके और अपने कुल में परम्परागत प्रीति है ।"

पिता के वचन सुनकर आर्द्र कुमार ने उस मन्त्री से पूछा :-

"आपके राजा का सर्वगुण सम्पन्न ऐसा कोई पुत्र है, जिस के



साथ मैं भी मैत्री करुं ?''

वह मन्त्री बोला :-

''श्रेणिक राजा का अभयकुमार नाम का पुत्र है । वह सर्व कला निधान, सर्वबुद्धि का समुद्र ५०० मन्त्रियों का स्वामी, महादयावान, महादातार, अत्यन्त विचक्षण, निर्भय, धर्म को जानने वाला, कृतज्ञ है । अधिक क्या कहूं ? संसार में जितने भी गुण हैं, सब उसमें हैं ।''

यह सुन हर्षित हुआ कुमार बोला :-

''मुझे मिले बिना आप वापिस मत जाना । और अपने देश में जाकर अभयकुमार को स्नेहवृक्ष के बीज तुल्य ऐसे कहना ।''

ऐसा कह कर आर्द्रकुमार ने धीरे से उस मन्त्री को कुछ कहा । उन वचनों को अंगीकार करके राजा के बताए स्थान पर, वहां के राजपुरुषों सहित गया । कुछ दिन आदर पूर्वक वहां ठहर कर जब उसने वापिस राजगृही जाने की बात की, तो आर्द्रक राजा ने मूंगा-मोती आदि उत्तम भेंट भर कर, श्रेणिक महाराजा के लिए दिया । साथ में अपना मन्त्री भी भेजा । आर्द्र कुमार ने भी उत्तम मोती-वस्तुएं आदि भेंट स्वरुप अभयकुमार के लिए दिया । साथ में मिष्ट वाणी से सन्देशा भी दिया ।

मन्त्री ने राजगृही पहुंच कर श्रेणिक राजा और अभयकुमार को भेंट दी और मन्त्री अभयकुमार से कहा :-

''आपके साथ आर्द्रकुमार मैत्री करना चाहता है ।''

तब जिनशासन में कुशल अभयकुमार ने सोचा :-

''निश्चय ही वह राजकुमार विराधित श्रमणपणा के कारण अनार्य देश में उत्पन्न हुआ है, परन्तु वह राजपुत्र महापुरुष है,



निश्चय ही आसन्न भव्य है । क्योंकि अभव्य, दूरभव्य की तो मेरे साथ मित्रता करने की इच्छा भी नहीं होती । अतः किसी प्रकार से उसे धर्म मार्ग में प्रवर्ताऊं । (कुछक्षण सोचकर) हां, यह उपाय ठीक है । उपहार के बहाने से उसके पास जिन प्रतिमा भेजूं, तो उसके नित्य दर्शन से उसे कुछ ज्ञान हो सकता है और मेरी भी इष्ट सिद्धि हो सकती है ।''

ऐसा उपाय सोचकर-छत्र-चामर-सिंहासनादि से युक्त रत्नमयी श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा पेटी में रख कर, उस प्रतिमा के आगे धूप-दीपादि सब देवपूजा का सामान रखा । फिर पेटी बंद करके ताला देकर अभय कुमार ने उस पर अपनी मुहर (छाप) लगा कर, तैयार कर के रखी ।

कुछ दिन रुक कर जब आर्द्रक राजा का मन्त्री राजगृही से विदा ले कर जाने लगा, तब श्रेणिक राजा ने प्रिय आलाप पूर्वक बहुत सी वस्तुएं राजा के लिए दीं । अभयकुमार ने भी वह पेटी देकर अमृत तुल्य वचनों से इस प्रकार कहा :-

''वह पेटी आर्द्रकुमार को ही देना और उस मेरे भाई को कहना कि इस पेटी को एकान्त में बैठ कर खोले । इसके अन्दर की वस्तु आप ही को देखना है और किसी को नहीं दिखाना-आदि ।''

अभयकुमार के वचन को स्वीकार करके आर्द्रक राजा का मन्त्री वहां से विदा लेकर क्रमशः अपने नगर आ गया । राजा को और कुंवर आर्द्र कुमार को उन-उन की भेंट सौंप दी । और फिर कुमार को अभय कुमार का सन्देश भी कहा । तदनुसार आर्द्रकुमार हर्षित हो एकान्त में बैठ कर उस पेटी को खोल कर अन्धेरे में भी उद्योत करने वाली उस रत्नमयी प्रतिमा को देख कर विचार



करने लगा :-

"अहो ! क्या यह उत्तम देही का कोई आभरण है ? तो क्या यह मस्तक पर पहना जाता है अथवा तो कण्ठ में या हृदय पर ?"

ऐसा विचार करते उसी तरह से प्रतिमा को मस्तक कण्ठ और क्रमशः हृदय पर रखा परन्तु वह अमूल्य आभरण (प्रतिमा) कहीं भी जब टिका नहीं तब सोचने लगा इसे कहां पहना जाता है ? कैसे पहूनं ? इस तरह बार बार उस प्रतिमा को देखते और फिर टकटकी लगाकर देखते देखते उसे कुछ याद आया कि ऐसा ही मैं ने पहले भी कहीं देखा हो, ऐसा मालूम होता है, परंतु कहां देखा होगा, वह याद नहीं.... । इस तरह उहापोह करते कुमार को जाति स्मरण ज्ञान जनित मूर्छा आ गई । थोड़े समय बाद जब मूर्छा हटी तो स्वयमेव अपने पूर्वभव को स्मरण करने लगा :-

इस भव से तीसरे भव में मगधदेश में वसंतपुर नगर में सामाजीक नाम का सेठ था । उसके बंधुमती नामक स्त्री थी । एक दिन आचार्य सुस्थित सूरि के पास उपदेश सुनकर स्त्रीसहित वह प्रतिबोधित हुआ । गृहस्थ वास से विरक्त उन दोनों ने आचार्य महाराज से दीक्षा ली । क्रमशः गुरु के साथ विहार करते पाटण में आए । बंधुमती भी दीक्षा लेकर अपनी गुरुणी जी आदि साध्वियों के साथ विचरण करती हुई उन्हीं दिनों पाटण में आ गई । एक दिन बंधुमती साध्वी को देख कर पूर्वावस्था के भोग याद आ गए । तब उस पर मेरा राग बढ़ा । यह बात मैं ने एक साधु से कह दी । उस साधु ने प्रवर्तिनी साध्वी से और प्रवर्तिनी ने बंधुमती से बात की । तब बंधुमती खेदातुर हो कर प्रवर्तिनी से बोली :-



"यदि यह गीतार्थ भी मर्यादा उल्लंघे तो क्या गति होगी ? मैं यहां से विहार करुं तो भी इसका राग छूटेगा नहीं । पीछे आ भी सकता है । इसलिए हे भगवति ! अब मैं निश्चय ही मृत्यु का शरण लूं जिससे इसका और मेरा शील अखण्डित रहे ।"

ऐसा कहकर बंधुमती साध्वी, गुरुणी की आज्ञा पूर्वक अनशन करके, शुद्ध भाव से प्राण त्याग कर देव गति को प्राप्त हुई ।

बंधुमती की मृत्यु सुनकर मैं ने विचारा कि बंधुमती निश्चय ही व्रत भंग के भय से मरी है और मैं व्रतभंग हूं । अतः मेरा जीना भी उचित नहीं । तब मैं ने भी अनशन करके देव गति पाई । वहां से च्यव कर मैं यहां धर्महीन अनार्य देश में पैदा हुआ हूं । इस भव में जिसने मुझे प्रतिबोधित किया है, वह मेरा भाई भी है और गुरु भी है । मेरे किसी पुण्योदय से अभय ने मुझे प्रतिबोधित किया है परन्तु मैं मन्दभागी हूं, जो अभयकुमार के दर्शन अभी तक नसीब नहीं हुए । अतः अब पिता की आज्ञा लेकर आर्य देश में जाउंगा, जहां मेरा गुरु अभयकुमार है ।"

ऐसे मनोरथ करता हुआ और ऋषभदेव भगवान की प्रतिमा का पूजन करता हुआ, आर्द्रकुमार दिन व्यतीत करने लगा । उसे रह-रह कर अभयकुमार की स्मृति सताने लगी । उसकी नींद और भूख उचाट होने लगी ।

एक दिन साहस करके उसने पिता से कहाः-

"हे पिता श्री ! मैं अपने मित्र अभयकुमार को देखना चाहता हूं । आप की आज्ञा चाहता हूं ।"

राजा बोला :-

"हे पुत्र ! तुम्हें वहां जाने की इच्छा नहीं करना । अपने अपने



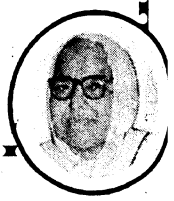
स्थान में रहते हुए ही मैत्री निभाना । मेरी भी स्वस्थानस्थित श्रेणिक राजा से मैत्री है । यहां का कोइ राजा या राजकुमार वहां गया नहीं और वहां का कभी आया नहीं ।''

तब पिता की आज्ञा में बंधे हुए , अभयकुमार से मिलने की इच्छा प्रबल होने से, उसे सोने-उठने-बैठने-खाने-चलने में हर काम में अभयकुमार-आश्रित दिशा ही नेत्र सदृश रहे । पास में रहने वालों से भी मगध की ही बात करता रहे :- मगधदेश कैसा है ? वहां का राजा कैसा है ? मन्त्री कैसा है ? वहां जाने का मार्ग कैसा है ? कौन सा है ? कितनी दूर है ? इत्यादि ।

उसकी ऐसी स्थिति जानकर राजा ने विचार किया कि यह अब यहां रह न पाएगा । चोरी से भी कभी भी भाग सकता है । अभयकुमार से मिलने की इसकी तमन्ना अति उत्कट हो चुकी है । अतः मुझे इसकी पूरी पूरी चौकीदारी रखनी पड़ेगी ।

ऐसा विचार करके राजा ने पांच सौ (५००) सामन्तों को आज्ञा दी, ''तुम लोग कुमार की रक्षा करना । वह कहीं दूर जाने न पाए, इस तरह हंमेशा उसका ध्यान रखना ।''

आदेश पाकर ५०० सामन्त देह की छाया की तरह हर दम कुमार के पास ही रहते । कुमार भी सब समझ गया कि मैं नजरकैद हूं । तथापि उसने अभयकुमार के पास जाने का प्रयास जारी रखा । उसने जान बूझकर अश्व-सवारी करना शुरु किया । घोड़ा फिराते फिराते वह कुमार, सामन्तों के आगे-आगे रहता है और फिर आप ही वापिस आ जाता है । सामन्त भी अश्वारोही बने हुए अंगरक्षक की तरह साथ ही रहते हैं । रोज-रोज इस तरह करते सामन्तों को विश्वास हो गया कि कुमार थोड़ा आगे भी रहे तो भी वापिस आ ही तो जाता है । अतः उन्हों ने



कुछ हरकत न दिखाई ।

अब आर्द्रकुमार ने अपने खास विश्वासु पुरुषों के पास से समुद्र में जहाज तैयार करा कर रत्नादि मूल्यवान वस्तुओं से भराया । जिन प्रतिमा भी चुपके से उसमें रखवा दी । सब करने के बाद एक दिन अश्व खेलाता हुआ सामन्तों से काफी आगे निकल गया और फुर्ती से जहाज में बैठकर जहाज चालू करा दिया । क्रमशः आर्य देश पहुंचा ।

वहां पहुंचकर ज्यों ही जहाज से उतरा, तुरन्त अभयकुमार को प्रतिमा भेजकर साधु का वेष ग्रहण कर लिया ।

वेष ग्रहण करके ज्यों ही सामायिक का पाठ उचरना शुरु करता है, कि इतने में ही आकाश में से देवी बोली :- "अहो कुमार ! यद्यपि तुम सात्विक हो, तथापि इस वक्त तुम दीक्षा मत लो, क्योंकि तुम्हारे भोगावली कर्म अभी बाकी हैं, उन्हें भोगकर फिर दीक्षा लेना । भोग्य कर्म तो तीर्थंकरो को भी अवश्य भोगना ही पडता है । अतः संयम ग्रहण करके त्याग करना उचित नहीं । उस भोजन का क्या प्रयोजन जो वमन रुप बने ।"

ऐसा बहुत मना करने पर भी उसके वचन को मान न देकर संयम ग्रहण किया । इस तरह वे प्रत्येक बुद्ध मुनि, तीक्ष्ण व्रत पालन करते हुए भूमंडल में विचरने लगे ।

एक बार वसन्तपुर पत्तन में, किसी देवकुल में काउसग्ग ध्यान में खड़े रहे । उस नगर में देवदत्त नामका सेठ रहता था । उसकी धनवती नामक स्त्री थी । बंधुमती का जीव देवलोक से च्यव कर श्रीमति नाम की पुत्री के रुप में उनके घर जन्मा । खूब लाड प्यार से पाल्यमान क्रमशः वह यौवनावस्था को प्राप्त हुई । एक बार सखियों सहित घूमने गई । घूमते घूमते सभी सखियां थक गई तो



उस ही देवकुल में पहुंच गईं । वहां पर वे सब पतिवरण का खेल खेलने लगीं । जब सब कन्याएं " भर्तार को वरो - भर्तार को वरो ।" इस प्रकार बोलीं तो किसी कन्या ने किसी का नाम लिया, अन्य ने दूसरे किसी का नाम लिया । इस तरह सभी ने अपनी अपनी इच्छा से वर अंगीकार कर लिया । तब श्रीमति, साधु के पास जाकर बोली :-

"हे सखियो ! मैं ने तो इस पूज्य को वरा है ।"

उसी समय आकाश वाणी हुई :-

" साधुवृतं -साधुवृतम् "

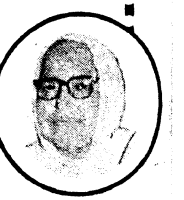
ऐसी जोर से गुंजारव करती हुई उसी देवी ने वहां रत्न की वृष्टि की, अर्थात जिस देवी ने दीक्षा लेते समय आर्द्र कुमार को मना किया था, उसी ने रत्नवृष्टि की । तब जोरदार गूंजों से भयभीत हुई श्रीमति साधु के पांव में पड़ी ।

वह साधु विचार करने लगा :- "यहां रहते मुझे अनुकूल उपसर्ग हुआ है । अतः यहां नहीं रहना चाहिए ।"

ऐसा विचार कर मुनि अन्यत्र चले गए । तब स्वामी विना के, धन का मालिक राजा होता है । ऐसा निर्णय कर के रत्न लेने के लिए राजपुरुषों सहित राजा वहां आया । धन के स्थान पर राजा और राजपुरुषों को बहुत सर्प ही सर्प दिखाई दिए । उसी समय वह देवी आकाश से बोली :-

"यह द्रव्य इस कन्या के वर स्वीकार करने पर मैं ने ही दिया है । अतः इसी कन्या के भाग्य का है ।"

ऐसा सुनकर राजा अपना सा मुंह लिए वापिस हो गया । तदनन्तर वह सब धन, श्रीमति के पिता देवदत्त सेठ ने ले



लिया । अब श्रीमति के लिए बहुत वर आने लगे । तब पिता ने पुत्री को बात की । श्रीमति बोली :-

"पिता जी ! जिस महर्षि का मैं ने वरण किया है, वह ही मेरा भर्तार है । उसको वरण करने में देवी ने जो धन दिया था, उस धन को ग्रहण करते समय आपने भी वही माना है । अतः उस मुनि के लिए मेरी कल्पना कर के और को देना योग्य नहीं है । कहा भी है :-

"राजा एक ही जुबान बोलते हैं , साधु भी एक ही जुबान बोलते हैं, कन्या भी एक ही बार दी जाती है ।"

यह सुनकर सेठ बोले :- वह मुनि तो भ्रमर की तरह एक स्थान रहने वाला नहीं । अतः अब वह कहां होगा ? कैसे यहां आएगा ? यहां आए और न भी आए । उसकी पहचान क्या ?

तब श्रीमति बोली :-

" उस दिन गाजने के भय से मैं ने साधु का स्पर्श किया था । अतः मैं पहचानती हूं । आप ऐसी व्यवस्था करो कि जो जो भी साधु यहां आए, उसका मैं दर्शन करुं ।"

सेठ बोला :-

"इस नगर में जो भी साधु आए उनको अपने हाथ से भिक्षा देना । जिससे सबका दर्शन हो जाएगा ।"

श्रीमति वैसा ही करने लगी । निरंतर ऐसा करते बारह वर्ष बीत गए । वह महामुनि दिशा भूल गया और वसंतपुर पत्तन में आ गया । श्रीमति ने उन्हें पहचान लिया, बोली :-"

"हे नाथ ! उस देवकुल में मैं ने जो पति वरा था, वह मेरा



वर तुम ही हो । मेरे भाग्य से ही यहां आए हो । मैं मुग्धा हूं । अब मुझे छोड़कर कहां जाओगे ? आप जब चले गए थे, तब से लेकर महादुख से मैं ने इतना समय बिताया । अतः प्रसन्न होकर मुझे अंगीकार करो । यदि मेरा पाणिग्रहण नहीं करोगे तो मैं अग्नि में प्रवेश करके आपको स्त्री हत्या का पाप दूंगी ।''

तब उसके पिता वगैरह और भी महाजनों ने शादी के लिए प्रार्थना की, तब उस साधु ने, दीक्षा लेते समय देवी ने मना किया था, उस वचन का स्मरण किया । भोगावली कर्मका उदय मान कर साधु ने उसका पाणिग्रहण किया ।

अब श्रीमति के साथ बहुत दिन तक भोग-भोगते, उस को क्रम से एक पुत्र हुआ । क्रमशः बालक पांच वर्ष का हुआ । तब राजकुमार समान कान्ति वाला दिखने लगा ।

एक दिन हर्षित हो कर आर्द्रकुमार श्रीमति से बोला :-

''अब यह पुत्र तेरा सहाय हो, मैं दीक्षा लेता हूं ।''

तब बुद्धिनिधि श्रीमति, पुत्र को समझाने के लिए सूत कातने बैठी । सूत कातती माता को देख कर बालक बोला :-

''मां, यह साधारण लोगों के योग्य क्या काम कर रही हो ?''

श्रीमति बोली :- ''बेटा ! तेरा पिता तुझे और मुझे निराधार छोड़कर दीक्षा लेगा, तब पतिहीन मुझे इस चरखे का ही तो शरण है ।''

तब बालक मचल कर अपनी तोतली मिष्ट भाषा में बोला :- ''मेरे पिता कैसे जा सकेंगें, मैं बांध के रख लूंगा ।''

ऐसा कह कर सूत के तंतुओं से, अंदर सो रहे पिता के पैर



बांध दिए । फिर हर्षित होकर मां से बोला :-

"मां, अब धीरज रखो । मैं ने ऐसा बांधा है, अब कभी नहीं जा सकेंगें ।"

आर्द्रकुमार ने शीघ्रता से उठकर उस बच्चे को गाढ़ आलिंगन में लेकर स्नेहपूर्वक कहा :-

"बेटा, जितने धागों से मेरे पांव बांधे हैं, उतने वर्ष और घर में रहूंगा ।"

वाद में गिन कर बंधन तोड़ते हुए बारह बंधन हुए । अतः बारह वर्ष तक फिर से घर में रहे ।

तत्पश्चात पूर्ण वैरागी बना आर्द्रकुमार, एक दिन रात को विचार करने लगा :-

"पूर्व भव में मैं ने मन से ही व्रत भंग किया । उससे मैं अनार्यपना पाया हूं । इस भव में व्रत ले कर छोड दिया । अब मेरी गति क्या होगी ? अभी भी दीक्षा लेकर तप से आत्मा को शुद्ध करुं । तभी सद्गति प्राप्त हो सकेगी । "

ऐसा विचार कर प्रभात में पत्नी और पुत्र की आज्ञा लेकर साधु का वेष पहन कर घर से निकला । राजग्रही नगरी की तरफ जाते हुए बीच में चोरी से आजीविका करते हुए, अपने साथ आए पांचसौ सामन्तों को देखा । उन्होंने भी पहचान लिया - वन्दन किया । आर्द्र मुनि ने उनसे कहा :-

" महापाप की कारणभूत यह वृत्ति क्यों अंगीकार की ? " वे बोले :-

" हमें दगा दे कर हे प्रभो ! जब आप चले आए, तब से लज्जा से राजा को मुख नहीं दिखाया । आप की गवेषणा में लगे हुए पृथ्वी पर परिभ्रमण करते हुए, चोरी की वृत्ति से निर्वाह



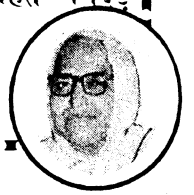
करते हैं ।''

'' तुम लोगों ने अयुक्तवृत्ति अंगीकार की है । महान पुण्य के उदय से इस मानव भव को पा कर स्वर्ग-अपवर्ग को देने वाले धर्म को अंगीकार करो । हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग करो । हे भद्रो ! तुम स्वामी के भक्त हो । मैं पूर्ववत् तुम्हारा स्वामी हूं । अतः मेरा ही मार्ग अंगीकार करो ।''

तब वे भी बोले :-

''पहले आप हमारे स्वामी ही थे, अब गुरु भी हो । इसीलिए आपने हमें धर्ममार्ग बताया । अब हमारे पर दीक्षा देकर अनुग्रह कीजिए । आपका मार्ग ही हमारा मार्ग है ।''

तब मुनि ने उन्हें दीक्षित किया । सब को लेकर प्रभु वीर को वन्दन करने हेतु राजगृही तरफ आगे बढे । मार्ग में हस्तितापस आश्रम आया । उस आश्रम में रहे हुए तापस एक बड़े हाथी को मार कर उसका मांस खाते हुए बहुत दिन व्यतीत करते थे । उनका कहना था कि एक ही हाथी को मारना ठीक है । क्योंकि एक जीव को मारने से कइयों का निर्वाह हो जाता है । मृग, मछली आदि और धान्य से वैसा निर्वाह नहीं होता । अतः बहुत पाप होने से धान्यादि खाना युक्त नहीं । तब उन मिथ्याधर्मनिष्ठ तापसों ने, जहां मारने के लिए सांकलों से बांध कर, एक हाथी रखा हुआ था, उसी मार्ग से दया के निधान वे पांच सौ मुनियों सहित आर्द्रमुनि, गए ।लघुकर्मी होने से उन मुनियों को देख कर वह हाथी विचार करता है कि मैं बंधा हुआ हूं । अन्यथा मैं भी इन मुनियों को नमस्कार करता । अभी हाथी इस तरह विचार ही कर रहा था कि मुनि - दर्शन से हाथी की सांकलें टूट गई । वह बंधन रहित हो गया । दौड़कर मुनि को वन्दनार्थ चला । मुनि की तरफ दौड़ते हाथी को देख कर लोग कोलाहल करने लगे - अरे, मुनि को मारा - मुनि को मारा । ऐसा कहते भगदड़



मच गई । मुनि तो शान्त भाव से वहीं खड़े थे । हाथी वहां पहुंचा । अपना कुम्भस्थल नमा कर मुनि को प्रणाम किया । सूंड के प्रसारण से मुनि के चरण स्पर्श करके परम सुख को प्राप्त हुआ । पश्चात वहां से उठ कर एकदम व्याकुलता रहित किसी अटवी में चला गया । मुनि के ऐसे अद्‌भुत प्रभाव को देखकर, क्रोधित हुए तापस, आर्द्र मुनि के पास आए । तब उन्होंने उन तापसों को प्रतिबोधित करके भगवान महावीर स्वामी के पास भेजा । समवसरण में उनकी दीक्षा हुई । श्रेणिक राजा भी हाथी का छूटना और तापसों को प्रतिबोधित करने की बात जानकर अभयकुमार सहित वहां आया । उसने महामुनि को वन्दना की और मुनि ने धर्मलाभ दिया । पश्चात् शुद्ध भूमि पर बैठे हुए मुनि को राजा ने पूछा :-

"हाथी की सांकलें टूटीं, जान कर बड़ा आश्चर्य सा हो रहा है ।"

मुनि बोले :- "हाथी की सांकलें टूटना मुश्किल नहीं है, किन्तु कच्चे सूत के तन्तु टूटना मुझे कठिन लगता है ।"

तब राजा के पूछने पर अपना सब वृतान्त कहा । फिर आर्द्रकुमार मुनि अभयकुमार से बोले :-

"अभय ! तूं मेरा निष्कारण उपकारी धर्मभाई बना । हे मित्र ! तुम्हारे द्वारा भेजी तीर्थंकर की प्रतिमा देखने से मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और मैं जैनधर्म में अनुरक्त हुआ । अन्यथा मुझे धर्मप्राप्ति कहां होती । अनार्य देश रुपी कीचड़ में फंसे हुए, मेरा , तूने उद्धार किया । तेरे प्रसाद से ही मुझे चारित्र की प्राप्ति हुई ।"

तब श्रेणिक राजा, अभयकुमार आदि सभी जन मुनि को वन्दन



करके प्रसन्नता से स्वस्थान गए । मुनि भी भगवान महावीर स्वामी को वन्दना कर, सेवा करते हुए, आयु पूर्ण होने पर, कर्म खपा कर मोक्ष पद को प्राप्त हुए ।

X X X X X X X X X X X X X X X

छोटे बच्चे रो कर दूसरों से चीज प्राप्त करते हैं तो बडे मनुष्य दूसरों को रूला कर ।

प्रेमियों के नौ चिन्ह :-
ठण्डी आहें, पीला रंग, जलपूर्ण नेत्र,
प्रतीक्षा, बेचैनी असन्तोष,
मितभाषी, मिताहारी, अनिद्रा ।



योगी से भोगी और फिर भोगी से योगी बने.....

★ मुनि अरणिक ★

तगड़ा नामक नगरी....

धन्ना नामक वहां शेठ....

उसका अरणिक नामक पुत्र....

प्रभु वीर की वाणी सुन वैराग्य जागा....

पिता पुत्र ने संसार त्याग कर दीक्षा ली ।

पुत्र की वात्सल्यता वश, पिता सब काम स्वयमेव कर लेता । गोचरी लाना, पानी लाना, कपड़े धोना आदि कुछ भी काम पुत्र से न कराता । क्रमशः पुत्र युवा हुआ । अचानक पिता का साया सिर से उठ गया । अन्य साथी मुनियों ने कुछ दिन पिता की मृत्यु बाद अरणिक को संभाला । वे सोचते हैं कि पिता की मृत्यु का दुःख वज्रघात सम होता है । अतः उसका सारा काम कर देते ।

कुछ दिन बाद बोले, "भैया ! अब अपना काम स्वयं करो । गोचरी लाओ - पानी आदि लाओ ।" पिता मुनि ने अरणिक को कभी बाहर जाने ही नहीं दिया था । अब सहवर्ती मुनियों की बात को मानते हुए चल पड़ा, झोली पातरे लेकर ।

गर्मी का मौसम.....नंगे सिर ... नंगे पांव... निकल पड़ा भिक्षा के लिए । गगन आग बरसा रहा था । तपे हुए लोहे की तरह धरती तप रही थी । गर्म गर्म लुएं चल रही थीं । ऐसे समय



में वह गोचरी के लिए घूम रहा था... प्रथम बार भिक्षा के लिये निकला था । सारा शरीर पसीने से तर - बतर हो रहा था । चेहरा एकदम कुम्हला रहा था । गर्मी से तिलमिला उठा था वह । कहीं छाया नहीं दीखती थी । क्षुधा तृषा से घबरा रहा था ।

चलते चलते एक उंचे भवन की छाया देख, वहां छाया में खड़ा हो गया । युवावस्था का तेज सूर्य की गर्मी में निखर उठा । लालिमा मुखमंडल पर ज्वलित हो रही थी । नवनीत सी कोमल देह वाले इस यशस्वी प्रियदर्शी सितारे मुनि को झरोंखे में बैठी किसी नारी ने देखा । मुनि का रुप लावण्य देखकर उसकी वासना अंगड़ाई लेने लगी.... उसने तुरंत एक दासी को मुनि का स्वागत करने भेजा... बुलाने भेजा ।

''धर्मलाभ'' कह कर मुनि ने घर में प्रवेश किया । ''पधारिए आपका स्वागत है ।'' नारी ने कहा ।

मुनि नारी के पीछे पीछे चलने लगा । गर्मी से तप्त सुकुमार शरीर को एकदम ठंडक मिली । एक के बाद एक कमरों को पार करते हुए पहुंच गए वातानुकूलित रुम में ... आंखों को कुछ राहत मिली, नेत्रों में चमक आई ... क्षुधा तृषा से आकुल देख नारी ने पानी से, मीठे मोदक के आहार से पात्र भर दिए । उसी स्थान पर बैठ कर भोजन ग्रहण करने का आग्रह किया । आहार कर लेने बाद चलने को तत्पर हुए मुनि को विश्राम करने का आग्रह किया ... सुख शय्या पर विश्राम कर लेने के पश्चात नेत्रों से कामबाण छोड़कर मुनि के दिल को बींधते हुए पूछा :-

'' इस युवावस्था में संयम के कठोर मार्ग पर क्यों आरुढ़ हुए ? हथेली में रखे मधु को छोड़कर कुहनी से नीचे टपकते मधु को चाटने वाले बने हो । वह मिले या न भी मिले, अर्थात् वर्तमान



के सुख को छोड़ कर भावि सुख हेतु इतना कष्ट क्यों सहन कर रहे हो? इत्यादि ।''

इन शब्दों को सुनकर मुनि चमका ... घर का रंग ढंग देखकर ज्यादा चमका, ''अरे यह तो वेश्या का घर है । मै यहां कहां फंस गया'' परंतु वह चमक क्षणिक बन कर रह गई ।

मुनि, वेश्या के हाव भाव में लुब्ध हो गया । वासना - मूर्ति उस नारी के मधुर तीक्ष्ण कटाक्षोंने, कोमल स्पर्श ने, मुनि को, संयम भुला दिया । मुनि ने वहीं डेरा डाल दिया ।

उधर, मां को ज्ञात हुआ कि उसका बेटा कहीं चला गया है, उपाश्रय छोड़कर चला गया है । ''कहां ?'' मां को मालूम नहीं । वह सोचती है :-

''क्या मेरा बेटा साधु धर्म से पतित हो सकता है ? गुरु आज्ञा लोप सकता है ? धर्म का द्रोह कर सकता है ? ''

मां घबरा गई ... बेचैन हो गई । मां की ममता उस नगरी की गली गली में अरणिक - अरणिक पुकारती है । परिचय दे दे कर सबको पूछती है... करुण क्रन्दन करती, गिरती - पड़ती है ... पागल वत् घूम रही है, अरणिक..... बेटा अरणिक ।

पुत्र की ममता नें मां को उन्मत्त बना दिया । वह स्वयं को भूल गई । एक दिन मां की चीख... मां की मधुर आवाज... मां की ममता उड़ती उड़ती गणिका के रंग भवन में जा टकराई । मुझे कोई बुलाता है । यह आवाज कहीं सुनी हुई है, परिचित आवाज़ है ।

हां, हां, यह तो मां की आवाज़ मां की !! मां अपने लाल को बुला रही है । भान भूले पुत्र को खोजने के लिए चीखें लगा रही है... अरणिक - बेटा अरणिक ... गणिका की गोद में से



सिर उठा कर वह तुरंत खड़ा हुआ, झरोखे में आया ... नीचे देखा ... क्या देखा?

मां का करूण दृश्य ... गली के बच्चे मां के पीछे लगे हैं, मां को कंकर मार रहे हैं ... मां की नकल करते अरणक - अरणिक बोलते मां की खिल्ली उड़ा रहे हैं । मां की आंखें बेसुध सी बनी इधर उधर पुत्र को देख रही है... मां कभी दौड़ती है... कभी चलती है, कभी गिरती है...

वासना की आग में झुलस रहे पुत्र ने मां की यह हालत देखी । भान - भूला पुत्र एकदम पुकार उठा : मां, मां,...ओ मां..मैं यहां हूं , मां, मैं आया...

कहते - कहते वह झटपट सीढ़ियां उतरा ... वायुवेग से राजपथ पर पहुंचा... नंगे सिर नंगे पांव.. जैसे बैठा था वैसे का वैसा ही दौड़ पड़ा... अजब दृश्य था ... एक तरफ से पुत्र दौड़ रहा था, सामने तरफ से मां दौड़ रही थी । दौड़ते पुत्र ने मां को पकड़ लिया । मां के चरणों में आलोटने लगा । अपने सुगंधित - मुलायम केशों से मां के चरणों की धूली पोंछते हुए बोला : " मां मुझे माफ कर दे । मां, मैं भान भूल गया था ।" सिसकियां लेते बोला : मां ! मैं ने तेरी कोख को लज्जित किया है, मां ! मां..मां..... ।

मां ने बेटे को उठाया - पीठ थपथपायी । दोनों कुछ शांत बने । तब मां ने कहा :- "यदि मुझे शान्ति देना चाहता है तो तूने जो मुक्ति पथ अपनाया था, उसे फिर अपना ले ।"

अरणिक बोला : "मां, तेरी बात मानता पर मेरे से यह संयम जीवन की रोज़ - रोज़ की कठिनाई सहन नहीं होती । कोई ऐसा उपाय बता कि एकाध दिन में मेरा कल्याण हो जाय । संयम अच्छा



है, पर मेरा सुकुमार शरीर, कठिनाइओं को सहन करने में असमर्थ सा लगता है ।'' मां ने बेटे की परिस्थिति समझी । बेटे को शीघ्र मुक्तिमार्ग पहुंचाने का उपाय बताया । तुरंत भान भूला अरणिक सभान हो गया । उसने दिशा बदल ली ... चल पडा वन की ओर ...

जंगल में पहुंच कर एक शिला पर बैठ गया । शिला वैशाखी ताप से लाल अंगारे सम बन रही थी । बैठ गया उस पर । चमड़ी तड़ तड़ जलने लगी । नवनीत सी कोमल काया सूर्य के प्रखर ताप से चंद क्षणों में ही नवनीत सम पिघल गई ।

कल के अरणिक की जिंदगी वासना की आग में झुलस रही थी, आज तप की आग में मुनि अरणिक की जिंदगी पुनः विमल हो गई ।

धन्य ऐसी मां !!! धन्य ऐसा बेटा !! योगी से भोगी बना अरणिक, पुनः भोगी से योगी बन गया ।

अन्त में परमात्म स्वरुप बन गया ।

धन्य मुनि अणगार !

धन्य मुनि अरणिक !

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

रोगीका मित्र वैद्य, राजा रंक मित्र हां-जी हांजी
करके मीठे वचनों बोलने वाले,
संसारी दुरव से पीडितों के मित्र मुनिराज,
लक्ष्मी खो कर बैठे हुए मनुष्य के
मित्र ज्योतिषी होते है ।



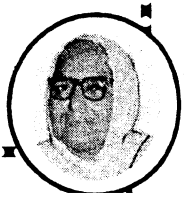
'श्री गौतम स्वामी सी लब्धि होवे'

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध नामक देश की राजगृही नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करता था । जो शत्रुदलों के बल को खण्डित करने वाला था । उसी नगरी के पास गुब्बर ग्राम में वसुभूति नामक गौतम गोत्रीय विप्र रहता था । उसकी भार्या का नाम था पृथ्वी ।

उनका ज्येष्ठ सुपुत्र श्री इन्द्रभूति था, जो चौदह प्रकार की विद्याओं में पारंगत हो चुका था और अपनी विद्वत्ता के कारण जगत्प्रसिद्धि को पा चुका था । उसका रूप-लावण्य अजोड़ था । सात हाथ उसकी देह का प्रमाण था । उसके ५०० गुणवान शिष्य थे । उन सबसे परिवृत वह मिथ्यामति होने से, निरन्तर यज्ञकर्म में लीन रहता था । उसका यही मिथ्या ज्ञान व क्रिया उसके लिए दर्शन-ज्ञान व चारित्र की विशुद्धि का निमित्त किस प्रकार बन गया, वह घटना इस प्रकार है :-

भगवान महावीर स्वामी जी को दीक्षा लिए जब तेरहवां वर्ष चल रहा था, तब वैशाख शुदि दशमी के दिन ऋजुवालिका नदी के किनारे, गोदुहिकासन में साधना करते हुए अर्थात् साढे बारह वर्ष तक घोरातिघोर कष्टों और उपसर्गों को सहन करते हुए, जब उनके घाति-कर्म नाश हुए तब उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । वह समय पिछली पोरिसी का था अर्थात् शाम होने जा रही थी ।

तभी अशोक वृक्ष, सुर-पुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामर द्वय, भामण्डल, देवदुंदुभि और छत्र त्रय तथा सिंहासन ये आठ प्रतिहार्य



प्रकट हुए । कम से कम करोड़ देवता उनकी सेवा में सदैव तत्पर रहने लगे । वे जीव-अजीवादि के सभी, भावों को, पर्यायों को देखने व जानने लगे ।

उस समय एकत्रित हुए देव और असुरों के प्रति पत्थर वाली जमीन पर पड़ी हुई बरसात के समान क्षण वार देशना देकर प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया ।

दूसरे दिन भ० महावीर स्वामी जी अपापापुरी के महसेन नामक उद्यान में पधारे । देवों ने समवसरण की रचना की । ऐसा समवसरण, कि मिथ्यामतियों को देखते ही ईर्ष्या हो जाए । प्रभु सिंहासन पर विराजमान हो गए । देव दुंदुभि आकाश को गूंजायमान करने लगी । कुसुमवृष्टि होने लगी, आदि ।

योजनगामिनी, भगवान की वाणी चारों दिशाओं में गूंजने लगी । बारह प्रकार की पर्षदा (सभा), वाणी सुनने के लिए दशों दिशाओं से उमड़-उमड़ कर एकत्रित होने लगी । स्वर्ग से भूमि की ओर आते हुए चार प्रकार के देवताओं के कारण आकाश में भी भीड़ लग गई ।

उस समय वहाँ मार्ग में सोमिल नामक ब्राह्मण के घर यज्ञ करते हुए बहुत से ब्राह्मण एकत्रित हुए थे । उनमें इन्द्रभूति-अग्निभूति और वायुभूति ये तीन सगे भाई भी थे । उनके प्रत्येक के साथ पाँच सौ-पाँच सौ शिष्य परिवार था । व्यक्त और सुधर्मा आदि आठ अन्य भी प्रकाण्ड विद्वान थे । इन ग्यारह का मिल कर ४४००का परिवार था । इन सबके मन में किसी न किसी विषय का संदेह था । परंतु अभिमान के कारण परस्पर पूछते नहीं थे । अन्य भी अनेक ब्राह्मण वहां एकत्रित थे । वे सभी विचार करने लगे :- "अहो ! हमारे यज्ञ की महिमा कैसी है ? यहां पर तो



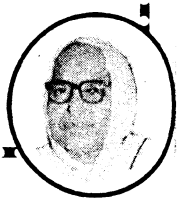
साक्षात् देवता आ रहे है । यज्ञकार्य में कितनी शक्ति है कि देवता भी स्वयमेव इसमें आहुति देने के लिए, खिंचे चले आ रहे हैं, आकाश से भूमि की ओर ।'' अभी वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि देवताओं को उस यज्ञमण्डप को छोड़कर बाहर महसेन उद्यान की तरफ जाते देख कर उन्हें अत्यन्त खेद हुआ । जब उन्हें पता चला कि वे सब सर्वज्ञ प्रभु को वन्दन करने जा रहे हैं तब इन्द्रभूति का अभिमान उछल पड़ा :-

''अरे, मेरे सर्वज्ञ होते हुए यह दूसरा कौन अपने आपको सर्वज्ञ कहलाने लगा है ? कान से न सुनने योग्य ऐसा कटु वचन मुझसे कैसे सहा जाए ! मैं इसके इस सर्वज्ञपना को क्षण वार सहन नहीं कर सकता । किसी मूर्ख व्यक्ति ने इनको कदाचित् ठग लिया जो मेरे यज्ञमण्डप को छोड़कर आगे आगे बढ़ रहे है । मैं अभी चल कर उसके सर्वज्ञपना को देखता हूँ । मेरे सामने वह है क्या चीज़ ?'' इत्यादि विचार करते हुए ५०० शिष्यों से परिवेष्टित वह इन्द्रभूति समवसरण के द्वार पर आ पहुंचा ।

प्रथम पगथिया (पौढ़ी) पर ठहर कर प्रभु को देखते ही वह विचार में पड़ गया- उहापोह करते उसे ज्ञात हुआ कि यह तो अन्तिम तीर्थंकर हैं । तब वह पश्चाताप करने लगा कि ''अहो ! मैने यहाँ आकर बहुत बड़ी भूल कर दी । अब मैं अपनी पूर्वोपार्जित मान-महत्ता कैसे रख सकूंगा । मैं तो, महान संकट में पड़ गया । अब तो शिव जी ही मेरे यश की रक्षा करेंगे ।''

इस प्रकार विचार करते हुए प्रभु ने उसका नाम और गोत्र उच्चारणपूर्वक मीठी वाणी से बुलाया :- ''हे गौतम इन्द्रभूति ! तूं यहाँ सुखपूर्वक आया है नं ?''

प्रभु के मुख से यह सुनते ही वह एकदम चमका ''अरे यह



तो मेरा नाम भी जानता है ।'' आगे सोचा - ''तीनों जगत में विख्यात मेरा नाम कौन नहीं जानता ? क्या सूर्य किसी से छिपा रह सकता है ? अब यदि यह मेरे मन में रहे गुप्त संदेह जान कर उसे दूर करे तब इसे सर्वज्ञ मानूं ।''

ऐसा विचार करते हुए को प्रभु ने उसके मन का संशय बताया और उसका फिर निराकरण भी कर दिया ।

प्रभु के वचनों से सन्देह नष्ट हो जाने पर इन्द्रभूति ने ५०० शिष्यों सहित प्रभु के पास दीक्षा ले ली । उसी समय प्रभु के मुख से ''उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेई वा'' यह त्रिपदी प्राप्त कर उन्होंने द्वादशांगी की रचना की । वे प्रभु के प्रथम गणधर कहलाए । उस दिन से भगवान के निर्वाण के दिन तक, सतत लगभग तीस वर्ष जितने सुदीर्घ समय तक, भगवान के साथ विचरते रहे ।

मति-श्रुत-अवधि और मनः पर्यव इन चार ज्ञान के धर्ता हो जाने पर भी जब तक भगवान का निर्वाण नहीं हुआ था । उन्हें केवलज्ञान न हुआ । उसका मुख्य कारण था उनका प्रभु के प्रति तीव्र अनुराग । चाहे वह राग प्रशस्त ही था परन्तु मोक्ष मार्ग में, केवलज्ञान की प्राप्ति में, तो अन्तराय रूप ही था । कई बार उनके मन में प्रश्न उठता कि 'मैं चरम शरीरी हूं या नहीं ?'

एक दिन प्रभु की देशना इसी विषय पर अस्खलित गति से चल रही थी । उसी के मध्य में प्रभु कह रहे थे :-

जो अष्टापद सेल, वन्दे चड़ी चउवीस जिण ।

आतम लब्धि वसेण, चरम सरीरी सोय मुनि ॥

अर्थात् जो मुनि अष्टापद पर्वत पर चढ़ कर चौवीस जिन



प्रतिमाओं को वन्दन करता है, वह आत्मा की अपूर्व लब्धि को प्राप्त करता है, चरम शरीरी होता है । आदि -

इस प्रकार की भगवान की देशना सुन कर गौतम गणधर, भ० की आज्ञा लेकर अष्टापद पर्वत की तरफ चल पड़े । उस समय अष्टापद पर्वत पर कई-कई वर्षों से १५०० तापस तपस्या-साधना कर रहे थे । वे सभी भरत महाराजा द्वारा प्रतिष्ठापित, देह प्रमाण, चौबीस जिन बिंबों के दर्शनार्थ, कठिन तपस्या कर रहे थे । उन्होंने दूर से आते हुए गौतमस्वामी जी को देखा तो समझ गए कि यह भी हमारी तरह जिन बिंबों के दर्शनार्थ आया होगा । गौतम स्वामी की सुललित सुमनोहर देह के सौष्ठव को देख कर वे सभी परस्पर कानाफूसी करने लगे :-

"हम भी देखते हैं यह मोटी ताजी देहवाला कैसे ऊपर चढ़ता है ? कैसे जिनेश्वर भगवान की प्रतिमाओं के दर्शन वन्दनादि करता है ? हम तो इतने वर्षों से उपर चढ़ने का अभ्यास कर रहे हैं, परन्तु कोई अभी तीन पगथिया (सीढ़ी) चढ़ पाया है, कई दो सीढ़ियां चढ़े हैं । कई पहली सीढ़ी पर ही बैठे हैं । यहाँ तक कि कई तो अभी तलहटी पर ही साधना कर रहे हैं । इससे ऊपर चढ़ने मे असमर्थ हम सब साधना द्वारा शक्ति व सिद्धि प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं । यह सौम्य आकृति वाला, साधु के वेश में हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला तो हंसी का पात्र ही बनेगा । कहाँ तो हमने अपने शरीरों को तप द्वारा सुखा सुखा कर हड्डियों का ढांचा सा बना लिया है । कितने ही प्रकार के प्राणायाम आदि योगासनों से शरीर को हल्का बनाने का अभ्यास कर रहे हैं, ताकि शीघ्र ऊपर चढ़ सकें । यह तो हाथी जैसी स्थूल देह वाला है । कैसे यह ऊपर तक पहुंचेगा ? जब हमारे जैसे सिद्ध पुरूष नहीं चढ़ पाए तो इसकी क्या मिज़ाल ?"



अभिमान पूर्वक इस प्रकार के, जब वे विचार कर रहे थे तब तक तो मुनि गौतम गणधर उनके एकदम समीप आ चुके थे। उन्होंने उन सब तापसों की स्थिति देखी-समझी, और फिर मन ही मन कुछ संकल्प पूर्वक कुछ पल खड़े रहे। फिर सभी तापसों के देखते ही देखते सूर्य की किरणों का आलम्बन लेकर वेगपूर्वक अष्टापद पर्वत पर पहुंच गए। वहाँ पर परमात्मा की प्रतिमाओं का दर्शन करके नयन पावन किए, वन्दन करके देह रोमांचित-पुलकित हो गई। स्व-स्व काय प्रमाण चारों दिशाओं में चौबीस जिनेश्वरों के दर्शन उल्लासपूर्वक किए। तब उनके मन में यह धारणा निश्चित हुई कि मैं इसी भव में मोक्ष-पद पा सकूंगा - मै चरम शरीरी हूँ।

उस समय वहाँ पर जिन-बिम्बों के दर्शन-वंदन-अर्चन आदि के लिए देवी-देवता भी आए हुए थे। उनमें तिर्यक जृम्भक देवता भी था। गौतम स्वामी जी से पुण्डरीक-कण्डरीक नाम का अध्ययन सुन कर उस तिर्यक् जृम्भक देवता को प्रतिबोध हुआ। जिसके फलस्वरूप वह देवता का जीव अपनी आयु पूर्ण कर, स्वर्ग से च्यव कर, वज्र स्वामी के रूप में उत्पन्न हुआ।

गौतम स्वामी जी अष्टापद पर्वत से जब उतरते हुए वापिस आ रहे थे, तब लौटते-लौटते मार्ग में, जो जो तापस मिलते गए, उन सबको वे प्रतिबोधित करते हुए, अपने साथ लेते गए।

गौतम स्वामी जी की अद्‌भुत शक्ति को देख कर १५०० तापसों के मन में भी उनके प्रति अहोभाव जागृत हो गया था और उन्होंने गौतम स्वामी जी को गुरू के रूप में स्वीकार लिया था।

पर्वत से नीचे आ कर गौतम स्वामी जी ने उन १५०० तापसों को पारणा कराने का निश्चय किया। वे तापसों से बोले :-



"आप लोगो को कई कई मास, कई कई वर्ष हो गए सम्यग् ज्ञान विना की तपस्या करते हुए, तो आप सब को आज मैं ही पारणा कराऊंगा।" ऐसा कह कर वे गोचरी की गवेषणा के लिए निकले तो उन्हें एक छोटे पात्र जितनी खीर की प्राप्ति हुई। वापिस आ कर उन्होंने सभी को पंक्ति बद्ध बैठने के लिए कहा। तापसों ने जब छोटे पात्र में खीर देखी तो सभी के मन मे संशय होने लगा कि हम १५०० खाने वाले और इतनी जरा सी यह खीर ! इससे तो एक का भी पेट नहीं भरेगा। परन्तु गौतम स्वामी के आदेशानुसार वे सभी, संकल्प - विकल्पों का ताना बाना बुनते हुए पंक्ति बना कर बैठ गए।

गौतम स्वामी जी ने उस परमान्न (खीर) के पात्र में अपना अंगूठा इस प्रकार रखा कि खीर को छूता रहे। वे सभी को इच्छानुसार खीर परोसने लगे। उन्होनें जब से दीक्षा ली उसी दिन से छठ के पारणे पर छठ (बेला) की तपस्या करते आ रहे थे। उसी तपादि के प्रभाव से उन्होंने ऐसी अक्षीण महानस लब्धिं प्राप्त कर ली थी कि सभी को पेटभर आहार कराने के बाद जब अंगूठा हटाया तब खीर समाप्त हुई। तब से प्रसिंद्ध है :-

"अंगूठे अमृत वसे लब्धि तणा भण्डार,

श्री गुरू गौतम समरीए वांछित फल दातार।"

पारणा कराने के बाद गौतम स्वामी जी ने कहा :- "अब मैं अपने गुरू के पास जा रहा हूँ।" गुरू का शब्द सुनते ही वे सभी चमके, कान खड़े हो गए, पूछा :- "आपके गुरु ? आप इतने शक्तिमान लब्धिवान हैं, तो आपके गुरु कितनी शक्ति व लब्धियों से सम्पन्न होंगे। हम भी आपके साथ चलते हैं और आपके गुरु के दर्शन करके जन्म सफल करते हैं।" इत्यादि



विचार करते ५०० को वहीं केवलज्ञान हो गया और पांच सौ को मार्ग में जाते जाते हो गया ।

गौतम स्वामी जी उन १५०० तापसों को साथ लेकर जहां भगवान महावीर स्वामी जी विराज रहे थे, उस तरफ जा रहे थे । जिस प्रकार हथिनियों का स्वामी (जूथाधिपति) हथिनियों से घिरा हुआ चलता है उसी प्रकार गौतम स्वामी जी उन तापसों से घिरे हुए सुशोभित हो रहे थे ।

दूर से ही जब समवसरण दिखाई दिया- भगवान की योजनगामिनी वाणी कर्ण विवरोंसे टकराई..... चौतीस अतिशय से युक्त, अष्ट प्रतिहार्य से सुशोभित समवसरण की शोभा देखी तो शेष ५०० तापसों के मन का मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार दूर होने लगा... एकदम मानो प्रकाश-प्रकाश होगया । उनके घातिकर्म नाश होने लगे.... जब वे समवसरण तक पहुंचे... भगवान के दर्शन करते ही उन्हें पूर्ण रुप से पंचम ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हो गई । यहाँ पर कवि कल्पना करता है कि गौतम स्वामी जी ने उज्जवल (श्वेत) खीर खिलाने के बहाने मानों उनकी मिथ्यात्व रूपी कालाश दूर करके उनके मन को उज्जवल कर दिया । वे खीर के कवल ही उनके लिए मानो केवल (ज्ञान) रूप बन गए । केवल ज्ञान के निमित्त बन गए ।

समवसरण में बारह प्रकार की पर्षदा (सभा) बैठी हुई थी । गौतम स्वामी जी साधुओं की पंक्ति की तरफ आगे बढ़ने लगे ... परन्तु १५०० तापस जो अब केवलज्ञानी बन चुके थे, वे सभी केवलज्ञानियों की पंक्ति तरफ कदम बढ़ाने लगे । तब गौतम स्वामी जी ने उन्हें रोकते हुए कहा - "अरे, उधर कहाँ जा रहे हो, वहाँ तो सब केवलज्ञानी बैठे हैं । आप मेरे पीछे इधर आओ ।" तभी भगवान ने मधुर वाणी में कहा -



" गौतम ! केवलियों की आशातना मत करो । तुम जिन तापसों को प्रतिबोधित करके साथ लाए हो, वे अब समवसरण तक पहुंचते-पहुंचते भावों की विशुद्धि से केवलज्ञानी बन चुके है ।"

भगवान की वाणी सुनकर गौतम स्वामी जी को आश्चर्य भरी निराशा सी हुई कि मैं जिसे भी प्रतिबोधित करता हूं उसे ही केवलज्ञान हो जाता है, फिर मुझे क्यों नहीं होता ? यही प्रश्न एक बार जब उन्होनें प्रभु से पूछा तो उत्तर मिला - " गौतम ! तेरा, मेरे प्रति राग है । मोह है । चाहे यह राग प्रशस्त है फिर भी केवलज्ञान के लिए बाधक है । तू मेरे साथ राग छोड़ दे, तो आज ही तुझे केवलज्ञान हो सकता है । "

तब गौतम स्वामी जी ने कहा था :-

" भगवन्! मुझे ऐसा केवलज्ञान नहीं चाहिए जो मुझे आपसे दूर करा दे ।"

और एक दिन.....

जब कार्तिक वदि अमावस्या को भगवान का निर्वाण होने वाला था, तब उन्होंने गौतम स्वामी जी को एक देवशर्मा नामक विप्र को बोध देने के लिए उसके गांव में भेज दिया । उसे प्रतिबोध देकर वापिस आते हुए गौतम स्वामी जी वीर प्रभु का निर्वाण सुन कर मानो वज्र से आहत हो गए हों, इस प्रकार क्षण वार मौन होकर स्तब्ध से रह गए । उनके दुख का पार न रहा.... बिलख बिलख कर बच्चों की भान्ति रोने लगे... निराधार असहाय की भान्ति विलाप करने लगे ।

अन्त में वीर-वीर कहते जब उनकी हिचकियां बंध गईं तो वीर के स्थान पर वी ... वी.. शब्द ही उच्चारित होने लगा..... उन्हे



एक पाक्षिक राग का ख्याल आ गया । वी... वी... कहते कहते उनकी आत्मा प्रतिबोधित हो गई और 'वी' से वीतराग दशा का भान होते ही उन्हें उसी समय प्रभात में केवलज्ञान हो गया । वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए ।

यहाँ पर कवि कहता है :-

" अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये ।

विषाद केवलायाभूत, चित्रं श्री गौतमप्रभोः" ॥

गौतम प्रभु का सब कुछ आश्चर्यकारक ही हुआ । उनका अहंकार उल्टा बोध के लिए बन गया, राग भी गुरुभक्ति के लिए और विषाद केवलज्ञान के लिए हुआ ।

श्री गौतम स्वामी जी ५० वर्ष गृहवास, ३० वर्ष संयमपर्याय और बारह वर्ष केवलिपर्याय पाल कर, इस प्रकार कुल बानुं (९२) वर्ष की आयु बिता कर मोक्ष सिधारे । ऐसे लब्धिनिधान गौतम स्वामीं का जो प्रभात में नाम स्मरण करता है, उसके रोग शोक दूर हो जाते हैं । उसके सर्व इच्छित, तत्क्षण पूर्ण हो जाते हैं । उसके घर नवनिधियां क्रीड़ा करती हैं ।

" ॐ ह्रीं अरिहन्त उवज्झाय गौतम स्वामिने नमः"

(प्रभात में शुद्धता से एक माला गिनना।)

दुनियां में नए चिन्तन का प्रारंभिक स्वागत प्रायः विरोध से होता है ।



★ बुद्धि की कसौटी ★

(कौंस में दिए शब्दो में से खाली स्थान में सबसे अधिक ठीक बैठता शब्द भरकर संपूर्ण वाक्य फिर से लिखो ।)

1. प्रभु महावीर के देव तरीके के भव ..... थे ।
(१० - ६ - ५)

2. शत्रुंजय में वर्तमान मूलनायक की प्रतिमा ..... ने भराई थी । (बाहड़ मन्त्री, कर्माशा, भरत चक्री)

3. समवसरण में पशु पक्षी ..... के गढ़ पर बैठते हैं ।
(चांदी, सोना, रत्नों)

4. मुक्ताशुक्ति मुद्रा में..... सूत्र बोलने चाहिए।
(संख्या लिखो)

5. होंठ बन्द और दांत खुले रख कर नवकार का ..... जाप किया जाता है । (उपांशु, भाष्य, मानस,)

6. ..... और ..... तथा ..... सूत्र की अन्तिम गाथा समान है ।

7. पयूर्षण के ..... दिन कल्पसूत्र ग्रन्थ का वाचन शुरू होता है ? (चौथे, पहले, अन्तिम)

8. कुमारपालने ..... पत्रों को प्राप्त करने के लिए तप-पूजा-प्रार्थना की थी । (दस्तावेजी, ताड़, बिली)

9. ..... ने ग्रन्थ लेखन के लिए उपाश्रय में रत्न जड़ाए । (कुमारपाल, तल्लिंग, वस्तुपाल)



10. स्वर्ण के जिनालय बनाने की भावना पूर्ण न होने से मरते समय ..... की आंख में आंसू आए ।

(सम्प्रति, लुणिंग, नृपसिंह)

11. एक आचार्य के परिवार को ..... कहा जाता है । (गण, कुल, शाखा)

12. आदिनाथ भगवान के जीव ने बैल के ..... निश्वास लिए थे । (३००, ४००, ५००)

13 गोद में ऋषभ को लेकर बैठी हुई मरूदेवा माताकी प्रतिमा ..... टूंक में है ।

(बालुभाईकी, दादाकी, मोतीशा की)

14. कावी के मंन्दिर में ..... का गोखला प्रसिद्ध है । (पिता-पुत्र, देराणी-जेठानी सासु-बहु)

15. भवभ्रमण की वृद्धि का मुख्य कारण ..... है। (अज्ञान, मोह, कर्म,)

16. पार्श्वनाथ भगवान की दीक्षा ..... के वृक्ष नीचे हुई । (शाल, अशोक, चंपक)

17. 'अज्ञान तिमिर भास्कर ' ग्रन्थ के रचयिता ..... थे ।

(हेमचंद्राचार्य, विजयान्दसूरि, वल्लभ सुरि)

18. शत्रुंजय का वर्तमान में मुख्य जिनालय ..... ने बनवाया था । (कर्माशा, भरतचक्री, बाहड़ मन्त्री)

19. आदिनाथ भगवान का पौत्र .....भगवानका जीव था । (प्रथम, दसवें, चौवीसवें)



20. स्वदोष गर्हा के प्रभाव से नवकारसी करते ..... ने केवलज्ञान प्राप्त किया ।

(चंडरुद्राचार्य, इलाची कुमार, कुरगडुमुनि)

21. स्नात्र महोत्सव ..... कल्याणक का प्रतीक है । (दीक्षा, केवलज्ञान, जन्म)

22. मोक्ष है या नहीं ? यह संशय ..... को था । (इन्द्रभूति, वायुभूति, प्रभास)

23. कृष्ण की आठ पटरानीका नाम ..... सूत्र में है । (सूत्रका नाम लिखें)

24. वीणा वादन से श्रीपाल कुंवरने ..... सुंदरी से शादी की । (शृंगार, मयणा, गुण)

25. ..... राजर्षि की बात सुनने से हाथी को जाति स्मरण ज्ञान हुआ ।

(उदयन, अरविन्द, कुमारपाल)

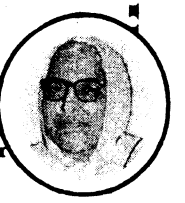
26. जाली, मयाली व उवयाली की प्रतिमा ..... जाने के रास्ते में है । (घेटीपाग, दादा की टूंक, नव टूंक,)

27. तिलक की रक्षा के लिए ..... मन्त्री ने प्राण का बलिदान देनेकी तैयारी की थी ।

(विमल, वाग्भट्ट, कपर्दी)

28. नेमिकुमार की दीक्षा का मुहूर्त ..... जोशीने निकाला । (टीडा, रत्नानंद, कौंस्टुकी)

29. गर्भ का पालन करने की रीति कल्पसूत्र के ..... व्याख्यान में आती हैं । (व्याख्यान नं० लिखें)



30. ..... चक्री शत्रुंजय के पास समुद्र को लाया । (भरत, सनत - सगर)

31. ''नमुचि ! बोल तीसरा पग कहां रखूं ?'' (यह वाक्य कौन बोला ?)

32, आदीनाथ भगवान का मोक्ष ..... आरे में हुआ था । (दुषमसुषम, सुषमदुषम, सुषम)

33. ..... पोल में प्रवेश करते विमलनाथ भगवान का मन्दिर आता है । (वाघण, रतन, राम)

34. '' इन्द्र ! तूं मेरी उंगली पकड़ कर चलता है तेरी भी चाल सीधी हो जाएगी ।'' यह वाक्य कौन बोला था ?

(विजयसमुद्र सूरि, वि. वल्लभ सूरि, वि. ललित सूरि)

35. घोर तपस्वी कूलवालक मुनि ..... द्रोही बन गया था । (पितृ, गुरू, देश)

36. काउसग्ग करते समय ..... छूटें रखी जाती हैं । (संख्या बताओ)

37. देव द्रव्य, गुरू द्रव्य, ... साधारण द्रव्य । (रिक्त स्थान भरो)

38. स्थूलिभद्रजी को ..... वाचनाएं भी कम पड़ती थी । (५-७-९)

39. अष्ट मंगल और भगवान के लंछन, दोनों में समानता हो. ऐसे ..... नाम है । (४-१-३)

40. ..... जैन कुल में जन्म की चाहना थी । (शेकसपीयर, बनार्डिशा, सोक्रेटीस)



41. गुरू वन्दन ..... प्रकार से है ।
(१-२-३)

42. शत्रुंजय की पंचतीर्थी में ..... गांव मे जीवित स्वामी की प्रतिमा है । (तलाजा, दाठा, महुवा)

43. प्रभु महावीर ..... के भव में समकित पाए । (त्रिपृष्ठ, नयसार, मरीचि)

44. आदिनाथ भगवान के साथ उनके ..... पौत्रों का निर्वाण हुआ । (९९-१-८)

45. शत्रुंजय की उंचाई ..... फुट है ।
(१५००-२०००-२५००)

46. आदिनाथ भगवान को केवलज्ञान समय ..... था । (छठ, अठम, चौथभक्त)

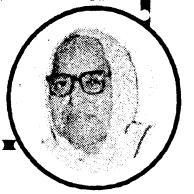
47. प्रभु महावीर ने दीक्षा समय के तप का पारणा ..... के घर किया । (नन्दीवर्धन, बहुल, चन्दनंवाला)

48. काउसग्ग करते जो छूटे रखते है, वह ..... सूत्र में बताई हैं । (नाम लिखो)

49. आदिनाथ भगवान ने सर्वप्रथम ..... का शिल्प बताया । (कुम्भार, सुनार, लुहार)

50. शत्रुंजय के मन्दिर के लिए वस्तुपाल ने पाषाण की पांच शिलाएं ..... की खान में सें मंगवाई थीं ।
(मकराणा, मम्माणी जयपुर)

51. आप मन भर सुनते हो उसमें से तोला भर भी आचरण मे लाओ तो आपका उद्धार हो जाए ।(इस वाक्यका प्रयोग कौन करता था .) (आ० समुद्रसुरि, वल्लभसूरि, हीरसूरि)



52. श्रावक, के दैनिक कर्तव्यो का वर्णन ..... सूत्र मे आता है । (नाम लिखो)

53. शत्रुंजय पर रायणपगला के पास सर्प और ..... की मूर्तियां हैं । (मोर, नेवला, अजगर)

54. आदिनाथ भगवान का जन्म नक्षत्र ..... था । (उत्तराषाढा, उतराफाल्गुनी, उतराभाद्रपद्र)

55. कल्पसूत्र का चतुर्विध संघ समक्ष वांचन सर्वप्रथम ..... मे हुआ ।
(वल्लभीपुर, आनन्दपुर, मथुरा)

56. आदिनाथ भगवान का .....का भव जीवदया के लिए प्रसिद्ध है । (ललितांग, धन, जीवानन्द)

57. १७० तीर्थकरों की ,उनके वर्ण सहित स्तुति करता सूत्र..... है । (नाम लिखो)

58. पांचमें आरे के अन्त में ..... आचार्य होगें ।
(शंकराचार्य, हेमचंद्राचार्य, दुष्पसहसूरि)

59. धर्म तत्व के ..... गुण है ।
(१३८, १०८,२३८)

60. आदिनाथ भगवान ..... दिन गर्भ में रहे । (२७४,२७७,२७०)

61. शत्रुंजय पर वर्तमान आदीश्वर दादाने प्रतिष्ठा के संमय ..... श्वासोश्वास लिए थे । (५,७,९)

62. दर्शन अर्थात् ..... ।
(जानना, श्रद्धा करना, आचरण करना)



63. कुंतासर का खड्डा पूर कर शत्रुंजय पर ..... की टूंक बनाई है । (हेमामाई, मोतीशा, बालुभाई)

64. अरिहंत के देवकृत अतिशय ..... है । (३४,४,१९)

65. सोलह विद्यादेवियों का नाम ..... सूत्रों में है । (नाम लिखो)

66. चांदी के गढ़ की कुल ..... सीढ़ीयां होती है। (१०,०००, २०,०००, ४०,०००)

67. श्रावक को रोज ..... पूजा करनी चाहिए । (केसर, दूध, अष्टप्रकारी)

68. ..... की निश्रा में तीन आचार्य और एक उपाध्याय की पदवी हुई थी ।

(आ० वल्लभसूरि, आ० इन्द्रदिन्न सूरि, आ० समुद्रसूरि)

69. सुपात्रदान से ..... ने तीर्थंकर पद बांधा । (सुलसा, रेवती, बप्पभट्टी)

70. मुनि हंस और परमहंस आचार्य हरिभद्र सूरिजी के ..... थे । (बेटे, भतीजे, भानजे)

71. बप्पभट्ट सूरि जी की परीक्षा के लिए राजा ने ..... को भेजा । (देवी, वेश्या, दासी)

72. शंत्रुजय का दूसरा उद्धार ..... राजाने कराया। (भरत, कुमारपाल, दण्डवीर्य)

73. विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता ..... थे । (जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरि भद्रबाहुस्वामी)



74. वरदत्त - गुणमंजरीका पूर्वभव आचार्य ..... सूरि ने सुनाया था । (सिंहसेन, विजयसेन, विजयसिंह)

75. गांगेय के पिता ..... थे । (दशरथ, सिंहरथ, शान्तनु)

76. तामली तापस मर कर ..... बना । (अच्युतेन्द्र, ईशानेन्द्र, सौधर्मेन्द्र)

77. द्राविड वारिखिल्ल जी ..... करोड मुनियों सहित शत्रुंजय पर सिध्ध हुए । (५-२-१०)

78. आ० पादलिप्त सूरि जी की माता का नाम..... था । (पाहिनी, पद्मांवती, प्रतिमादेवी)

79. महात्मा गांधी जी के ज्येष्ठ पुत्र का नाम ..... था । (मणिलाल, सोहनलाल, हरिलाल)

80. महाकवि कालिदास के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करनेवाली ..... थी । (दासी, वेश्या, रानी)

81. राजा दशरथ को ..... की आयुमें राज्य मिला । (२० वर्ष, एक मास, ८ मास)

82. उपशम, संवर, विवेक ये तीन शब्द सुनने से किसे बोध हुआ था । (चिलाती पुत्र, मृगापुत्र, इलापुत्र)

83. लब्धि पास होने परभी मानदेव सूरिजी म. का ..... घण्टे का बुखार दो प्रतिक्रमण सिवाय फिर शरीर में प्रवेश कर देता था । (२४, २, आधे)

84. प्रभुद्रोही गोशालक ..... गति में गया । (देव, नरक, तिर्यंच)



85. विदुषि शिष्या के कालधर्म का समाचार गुरूणी ..... को पांच दिन बाद दिया गया ।

86. घोर तपस्वी कूलवालक ..... द्रोही बन गया । (पितृ, गुरू, देश)

87. सम्भूति मुनि ने ..... गर्भित वैराग्य से दीक्षा ली थी । (दुख, मोह, ज्ञान)

88. व्याकरण रचयिता पाणिनी ने शंकर को प्रसन्न करने में ..... वर्ष व्यतीत कर दिए ।
(२४-१२-३६)

89. "प्रासुक पानी पीने से कोढ रोग हो गया," यह वाक्य किसने बोला ? (लक्ष्मणासाध्वी, अज्जासाध्वी, यक्षासाध्वी)

90. "मेरा बड़ा भाई जल्दी मर जाए तो मैं जल्दी घर चला जाउं" किसने विचारा था ? (रतिदेव, मुनिदेव, भवदेव)

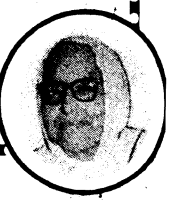
91. शत्रुंजय पर पाण्डवों का मन्दिर ..... मन्त्री ने बंधवाया था । (वस्तुपाल, पेथड़, बाहड़)

92. अशोक वृक्ष अरिहंत भगवान से ..... गुण उंचा होता है । (४-८-१२)

93. बारसा सूत्र के रचयिता ..... थे ।
(सुधर्मास्वामी, भद्रबाहुस्वामी, विनय वि.)

94. कल्लाणकंदं सूत्रकी पहली गाथा में ..... भगवान की स्तुति है । (संख्या बताओ)

95. पयूर्षण में ..... दिन कापी पेन्सिल, बांटी जाती है । (चौथे, पांचवे, छठे)



96. शत्रुंजय के ध्यान के प्रभाव से माणेकचंद मर कर ..... बने. (घंटाकर्ण, भैरो जी, मणिभद्रवीर)

97. पू० विजयानन्द सूरिजी म० का यह ..... शताब्दि समापन वर्ष है । (जन्म-दीक्षा-स्वर्गारोहण)

98. पर्यूषण में गणधरवाद, कल्पसूत्र के ..... व्याख्यान में आता है । (पांचवे, छठे, सातवे)

99. शत्रुंजय पर दादाकी ..... प्रदक्षिणा पांच भाइयो के मन्दिर से शुरू होती है । (पहली, दूसरी, तीसरी)

100. बालूगंज आगरा में जिनमंन्दिर..... की प्रेरणा से बना ।

(सा० मृगावती श्रीजी, सा० जशवंतश्री, सा० प्रियदर्शनाश्री)

सेवा धर्म महान कठिन है :- यदि सेवक कुछ न बोले तो गूंगा कहलाए, स्पष्ट बोले तो बकवासी कहाए, पास बैठा रहे तो ढीठ, दूर बैठे तो बुद्धिहीन, आलसी कहलाए, स्वामी के हर वचन सहन करे तो कायर, न सहे तो कुलहीन कहलाता है । अत : योगीजन भी इस कठिन सेवाधर्म को नहीं जान सकते ।



चित्रसेन-पद्मावती

"तूं इस पुतली पर मर रहा है ?... जबकि सारे शहर की सुन्दरियां तेरे पर न्यौछावर हैं....यह भावुकता अब छोड़ दोस्त !"

"रत्नसार ! यह पुतली किसी की कल्पना में आ नहीं सकती... यह तो किसी राजकुमारी की छवि लगती है... मैं उसी राजकुमारी के साथ विवाह करुंगा... जिसकी प्रतिमूर्ति यह पुतली है ।"

"राजकुमार ! मैं तुम्हारी इस असफल इच्छा के लिए क्या कहूं ? बस इतना ही कहता हूं कि जहां तुम मुझे ले चलोगे, वहां तुम्हारे साथ अवश्य चलूंगा अभिन्न रह कर ।"

"तटस्थ बन कर मेरे साथ चलोगे न !"

"और मैं कर भी क्या सकता हूं.... मैं भी खोज करूंगा तुम भी खोजना ।"

राजकुमार चित्रसेन ने अपनी असमर्थता प्रकट की.....

"रत्नसार ! मेरा तो शरीर मात्र ही रह गया है । प्राण तो इस पुतली की अधिष्ठात्री राजकुमारी के पास हैं । मैं कहीं भी नही जा सकता । तुम्हें ही इसकी खोज करनी होगी ।"

"चित्रसेन ! तुम युद्धवीर हो और दानवीर भी... तो अब प्रेमवीर भी बनना पडेगा । मान लो... राजकुमारी मिल भी गई तो बिना साहस और धैर्य के उसे कैसे प्राप्त कर सकते हो... अतः साहस को इकट्ठा कर मेरे साथ चलो ।"



"आऊंगा, तुम्हारे साथ । परन्तु मेरी प्रतिज्ञा सुन लो... तुमने ही मेरा इस कन्या के साथ मिलाप कराना है । यदि तुम ऐसा न कर सके... तो मैं अपने प्राण दे दूंगा ।"

रत्नसार ने प्रसंग बदल कर कहा :-

"मित्र ! देख, उस तरफ देख... बहुत लोग एक ही तरफ जा रहे है... वहां कोई मुनि होंगे... बहुत अच्छा संयोग बन गया... मुनि श्री का उपदेश भी सुनेंगे... और पुतली वाली राजकुमारी के बारे में भी पूछताछ कर सकेंगे ।"

राजकुमार चित्रसेन के मानो प्राण वापिस आ गए... उसे आशा बंधी कि जरूर मुनि जी इस राजकुमारी का पता लगा देंगे ।

बहुत मुनि अवधिज्ञान के धारक होते हैं । राजकुमार चित्रसेन और मन्त्रीपुत्र रत्नसार, दोनों मित्र, मुनि जी की शरण में आ गए... मुनि जी को वन्दना की... और बैठ गए ।

सुन्दर जंगल था ।

जंगल, नगर से दूर होने के कारण श्रोता अधिक नहीं थे ।

चित्रसेन और रत्नसार तो वहां संयोग वश पहुंचे थे । पिता की आज्ञा से चित्रसेन को बसन्तपुर नगर छोड़ना पड़ा था । उसे देशनिकाले की सजा मिली थी ।

उसका मित्र रत्नसार साथ हो गया... संकट के समय मित्र का साथ निभाना... मित्र का कर्तव्य है । एक तो मित्रता के कारण... और दूसरा... राजकुमार निरपराध था... अतः रत्नसार उसके साथ ही हो गया था ।

यह राजधर्म भी बहुत कठोर है... राजा का राजत्व उसकी पूजा है... प्रजा के लिए राजा अपने प्रति भी कठोर बन जाता है... उसे कठोर बनना पड़ता है... यही राजधर्म की कठोरता है ।



जनक नन्दिनी सीता ने क्या अपराध किया था ? उसने तो सतियों का अनुकरण ही किया था.. राम में उसके प्राण रहते थे ।

तथापि.....

प्रजा की इच्छा के कारण श्रीराम को इतना कठोर कदम उठाना पड़ा.. उसे वनवास देना पड़ा ।

ऐसे ही कठोर कदम का शिकार बना था चित्रसेन !

राजकुमार चित्रसेन का बस एक ही अपराध था - वह यह कि वह अत्यधिक रूपवान था... शील और सौन्दर्य... दोनों का साकार रूप था चित्रसेन ।

उसके पिता कलिंग देश के राजा थे ।

राजनगर बसन्तपुर में रहकर... अपनी प्रजा का पालन, वह सन्तान की तरह करता था । उसकी पत्नी रत्नमाला परम सुन्दरी और पति परायणा थी ।

उसकी कुक्षि से राजकुमार चित्रसेन का जन्म हुआ था... राजा वीरसेन की भावि आशा था वह चित्रसेन ।

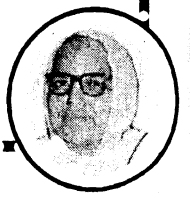
वह उसे बहुत लाड-प्यार करता था ।

अकेला वीरसेन और रानी रत्नमाला ही क्यों... सारा बसंतपुर ही चित्रसेन को चाहता था ।

तथापि...

राजा वीरसेन ने चित्रसेन को देशनिकाले की सजा दे दी... यही तो राजत्व की विडम्बना है ।

बसंतपुर का मंत्री था बुद्धिसागर । बुद्धिसागर तो बुद्धि का मानो सागर था... बुद्धि का भण्डार ही था ।



रत्नसार, मन्त्री बुद्धि सागर का लाडला बेटा था ।

चित्रसेन और रत्नसार सम आयु के थे ।

बचपन से ही दोनों मित्र बन गए थे ।

साथ ही खेलते साथ ही बैठते... खाते-पीते थे ।

ऐसे करते-करते दोनों बड़े हो गए ।

शास्त्र का अभ्यास भी दोनों ने साथ-साथ किया ।

राजकुमार चित्रसेन के पास सौन्दर्य का मूल धन ही इतना था कि साजश्रृंगार बिना भी वह युवतियों को पागल बना देता था ।

जब वह अलंकार पहन कर नगर का भ्रमण करता तो युवतियां काम छोड़-छोड़ कर इसे देखने आतीं...देखते...देखते वे खो जातीं... अपनी भान भूल जातीं... शादी-शुदा औरतें भी झरोखे में झुकी रहतीं ।

प्रौढ़ स्त्रियां भी अपने आप को नवयौवना समझने लगतीं । नगर के बड़े-बूढों को बहुत खराब लगता... यह सब ।

पति-पत्नियों से लड़ते... पिता-पुत्रियों को मारते... पर जब उनका कुछ वश न चलता तो वे सब इकट्ठा हो कर इस समस्या पर विचार करते ।

ऐसे ही एक दिन... एक वृद्ध बोला :-

"कैसा यह युग-परिवर्तन है कि लाज शर्म तो किसी को रही नहीं... उंचें-उंचे कुल की स्त्रियां, मानो नगर-वधुयें हों... एसे राजकुमार को देखती रहती हैं ।"

एक युवक ने कहा :-

इसमें हमारी बहू-बेटियों का क्या दोष ? राजकुमार किसलिए



नगर में घूमता है... ? चक्कर काटता है ?'' दूसरे वृद्ध ने खांसी खाते खाते कहा :-

''राजकुमार तो राजकुमार है... उसका नगर-भ्रमण किस तरह रोका जा सकता है ?''

'दादा', एक युवक ने कहा कुछ रोष में आकर :-

''हम सब राजा को कह देते हैं... अपने से कर ले ले कर यह खजाना भरता रहता है... क्या हमारा रक्षण, राजा का कर्तव्य नहीं ।''

''कर्तव्य तो है ही''... वृद्ध ने कहा ।

युवक ने बात का प्रवाह चालू रखा :-

''हमारी बहू-बेटियों को राजा का पुत्र आकर्षित करे, इसके लिए तो राजा ही जबाबदेह है । इसे यदि घूमने का शौक है... तो जंगल में घूमे... अन्य देशों में घूमे... अथवा राजा इसे रोके... अन्यथा हम सब, नगर छोड़ कर चले जाएंगे ।''

थोड़ी देर तक सन्नाटा फैल गया ।

न तो किसी ने युवक की बात का समर्थन किया और न ही किसी ने विरोध किया । तब फिर युवक बोला :-

''समूह के आगे इसका कुछ भी चलेगा नहीं... यह सब समस्या मेरी या तुम्हारी नहीं... सारे बसन्तपुर की है । हम सब मिल कर राजा को कह कर तो देखें ।''

अब एक प्रौढ व्यक्ति ने समर्थन के रूप में कहा :-

'' हां, कहने में क्या दोष है ? अपने राजा वीरसेन ने तो खुल्लम-खुल्ला कह रखा है कि प्रजा को किसी भी प्रकार का कष्ट हो, मुश्किल हो... तो मुझे कहो ।''



सभी एकमत हो गए ।

इस तरह निश्चित करने में आया कि राजा वीरसेन को अपने दुःख की बात कहना ।

युवक इतना अधिक प्रसन्न हुआ... कि मानो उसने कोई युद्ध जीत लिया हो ।

सब मिल कर राजा के पास गए ।

प्रतिनिधित्व उसी रणविजेता युवक ने किया ।

राजा ने सब सुना और प्रजाजनों से कहा :-

"प्रजाजनों ! हम आपको कल निर्णय बताएंगे... ऐसा ही विश्वास लें कर वापिस जाओ कि तुम्हारा कष्ट जरूर दूर होगा ।"

प्रसन्नचित्त से सभी नागरिक अपने-अपने घर वापिस मुड़े ।

प्रजावत्सल राजा वीरसेन ने महामन्त्री बुद्धिसागर के साथ विचार-विमर्श किया । मन्त्री जी ने पूरी बात सुनी और कहाः-

"राजन् ! प्रजाजनों की बात तो योग्य है, परन्तु राजपुत्र सर्वथा निर्दोष है... वह यदि सुन्दर है तो इसमें उसका क्या दोष है ?"

राजा ने कहा - "मंत्रिन् ! चाहे दोष चित्रसेन का नहीं... परन्तु प्रजाजनों का कष्ट तो इसी से सम्बन्ध रखता है ... प्रश्न दोष का नहीं... लोक-मर्यादा के रक्षण का है ।"

मन्त्री चुप । क्या कहे ? राजा ने ही कहा :- "मैं चित्रसेन को "देश-निकाला" का दण्ड दूंगा ।"

अब मन्त्री को बोलना पड़ा :-

"राजन् ! दण्ड का सम्बन्ध अपराध के साथ है । राजकुमार आपका पुत्र है, ऐसा मान कर विचार न करें... आपके न्यायाधिकरण में चित्रसेन को भी योग्य न्याय मिलना चाहिए ।"



"आप ठीक कहते हो मन्त्री ! मैं उसका पिता तो हूं ही ? पिता होने के कारण मैं उसे कह सकता हूं कि वह मेरे राज्य में से निकल जाए, चाहे कहीं भी जाए, परन्तु यहां न रहे ।"

"क्या पिता इतना कठोर होता है ?"

"मन्त्री ! चित्रसेन पर मेरा वंशज अधिकार है ।"

"कुछ कर्तव्य भी तो है ?"

"हां, है । अधिकार और कर्तव्य के नाते मैं उसे देश-निकाले का दण्ड दूंगा... इसी में उसका उज्जवल भविष्य छिपा हुआ है ।

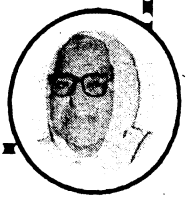
मन्त्री ! प्रजा का कष्ट दूर करने के लिए अन्य कोई उपाय तो है नहीं । प्रजा का हित ही राजा का कर्तव्य है । इसके लिए चाहे राजा को अपने स्वजनों-प्रियजनों के प्रति भी कठोर बनना पडे । मन्त्री ! इस तरह विदेश यात्रा, चित्रसेन की भाग्यपरीक्षा के लिए वरदान बन जाएगी । अनुभव का पाठ, वह इसी बहाने सीख सकेगा ।"

मन्त्री ने कहा :- "तो फिर आपका निर्णय यही है ?"

राजा की आंखें भर आई, मानो तालाब भर गया हो... दो मोती राजा की आंख में से टपक पड़े और मन्त्री से राजा ने कहा :- "मन्त्री ! इतना सहकार आप मुझे देना कि मेरा यह निर्णय, मेरे बदले आप ने उसे बताना ! मैं नहीं कह सकूंगा चित्रसेन को... आखिर मैं पिता भी हूं... राजा का काम मैंने किया... पिता का काम आप करना ।"

यह सुनते ही मन्त्री भी दुखी हो गया । दूसरे दिन दरबार में न्यायमन्त्री ने प्रजा को चित्रसेन के निष्कासन के निर्णय द्वारा अवगत करा दिया ।

मन्त्री ने चित्रसेन से कहा :- "राजकुमार ! राजा वीरसेन चाहते



हैं कि आप बसन्तपुर का त्याग कर दें ।''

निर्णय का फलक बहुत बडा था, किन्तु बुद्धिसागर ने बहुत ही संक्षेप में बताया था... चित्रसेन ने समभाव से जाने की तैयारी करनी शुरू कर दी ।

मन्त्री पुत्र, रत्नसार उसका मित्र था... वह भी उसके साथ ही जाना चाहता था..... चित्रसेन को कोई आपत्ति न थी ।

दोनों मित्र बसंतपुर छोड़ कर चल पड़े । एक जंगल में पहुंचे.. जंगल में तो छाया बहुत ज्यादा थी ही । थके हारे दोनों मित्र एक वटवृक्ष के नीचे पहुंच गये... जल्दी ही उन्हे नींद आ गई... रात पड़ी, तब रत्नसार उठ कर पहरा देने लगा ।

आधी रात के बाद रात की शान्ति में रत्नसार ने मधुर गीत की आवाज सुनी... चित्रसेन को जगाया... गीत की आवाज के साथ-साथ दोनों मित्र वहां पहुंचे... जहां किन्नरियां गीत गा रही थीं ।

भव्य और मणिमय महल था ।

केवली भगवान के आगे देव-देवियां नृत्य गान कर रही थीं... चित्रसेन और रत्नसार एक कोने में बैठ कर... सब देखने लगे ।

कुछ समय बाद उत्सव पूरा हो गया । सब देवी-देवता अपने-अपने निवास पर चले गए... रह गए मात्र दोनों मित्र ।

अब तो प्रभात भी हो चला था ।

दोनों मित्र घूम-घूम कर उस महल की भव्य वस्तुएं देखने लगे... जगह-जगह प्रस्तर की पुतलियां बनी थीं ।

एक पुतली पर चित्रसेन की आंख स्थिर हो गई । वह आश्चर्य में डूब कर रत्नसार से कहने लगा =- ''मित्र ! यह पुतली कल्पना प्रसूत नहीं, परन्तु राजकुमारी जैसी मूर्तिवन्त है ।''



रत्नसार ने टालने का प्रयास किया । बोला :- "अभी तो यह एक पुतली ही है... पुतली मान कर देखो और शिल्पी की कुशलता की प्रशंसा करो ।"

"रत्नसार ! यह राजकुमारी कहां मिलेगी ? इसे खोजो... इसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता ।"

रत्नसार ने चित्रसेन को बहुत समझाया, परन्तु वह माना नहीं । रत्नसार बेचारा कहां खोजे... पुतली की यथार्थता को?

इस महल का अवलोकन करके वे एक मुनि के पास पहुंचे । वहां समवसरण की रचना हो रही थी । केवली भगवान ने उपदेश दिया ।

देशना सुन कर सब चले गए । दोनों मित्र वहां बैठे रहे । रत्नसार ने केवली मुनि से पूछा :-

"महामुने ! मेरा यह मित्र चित्रसेन, इस भव्य महल में बनाई गई एक पुतली पर न्यौछावर हो गया है ... उसे वह एक राजकुमारी की मूर्ति मान बैठा है । अब क्या होगा ? आप ही बताने की कृपा करें ।

मुनि ने अपने ज्ञान द्वारा सब जान कर कहा :- "यह पुतली राजकुमारी पद्मावती की प्रतिमूर्ति है । सागर नामक सूत्रधार ने इसे बनाया है । पद्मपुर के राजा हैं पद्मरथ... उसकी रानी पद्मश्रीने राजकुमारी पद्मावती को जन्म दिया है । वह पुरुषद्वेषिणी है । अतः अभी तक कुंआरी है ।"

चित्रसेन को आशा-निराशा, एक साथ ही मिली । रत्नसार आश्चर्य में पड़ गया । उसने मुनि जी से पूछा :- "प्रभो ! इसे प्राप्त किये बिना तो मेरा मित्र जीवित नहीं रहेगा । वह यदि नर-द्वेषिणी है तो मेरे मित्र से शादी कैसे हो सकती है? उसे पुरुषों



से द्वेष क्यों है ? क्या वह दूर हो सकता है?''

मुनि बोले :- ''वत्स ! तुम्हारे सभी प्रश्नों का समाधान करूंगा । संसार में जितने भी विवाह होते है, वे सब पूर्व के सम्बंधों के कारण होते हैं । विवाह तो चित्रसेन का उसके साथ ही होगा... परन्तु... अब सुनो कि वह नर-द्वेषिणी क्यों हुई ?''

मुनि ने चित्रसेन-पद्मावती का पूर्वभव सुनाना शरू कियाः-

''किसी वन में हंस-हंसिनी रहते थे । उनके बच्चे भी थे । एक बार वन में दावानल का प्रकोप हुआ... छोटे-मोटे वृक्ष चटक-चटक कर जलने लगे, सभी पक्षी उड गए... हंस-हंसिनी के पास बच्चे भी थे... आग लगने से पहले हंस सरोवर में पानी लेने गया... उसे वापिस आने में देर लग गई, क्योंकि सरोवर दूर था... इतने में आग उसी वृक्ष के पास आ पहुंची... बच्चों को लेकर अकेली हंसिनी उड नहीं सकती थी... हंस आया नहीं... अतः सोचने लगी :-

''पुरुष बहुत अभिमानी होते हैं, दावानल से बचने के लिए ही वह सरोवर पर गया है । पुरुष हंमेशा नारी की उपेक्षा करते हैं... यदि मैं पहले से जानती कि पुरुष इतना स्वार्थी होता है... तो मैं जीवन भर अकेली ही रहती ।''

मुनि ने कहा :- रत्नसार ! इस तरह पुरुष के प्रति द्वेष का चिंतन करते हुए, हंसिनी बच्चों सहित जल कर मर गई । जब हंस वापिस आया तो पत्नी-बच्चों के लिए रोते-रोते ही दावानल में सुलग गया ।

रत्नसार ! वही हंसिनी यह पद्मावती है और हंस का जीव तेरा मित्र चित्रसेन है । पूर्वभव के सम्बन्ध के कारण तुम्हारे मित्र चित्रसेन के मन में राजकुमारी के प्रति अनुराग जागा है । इन दोनों



ने एक दूसरे के लिए जन्म लिया है ।''

''परन्तु राजकुमारी का पुरुषद्वेष ?'' रत्नसार ने पूछा :-

मुनि बोले :- इसका उपाय तुझे करना है ! एक चित्रफलक पर तीन चित्र बनाओ । पहले चित्र में हंस-हंसिनी के प्रेम का आलेखन करो, दूसरे चित्र में दावानल सुलगा हो और हंस पानी के लिए उडता जा रहा हो, तीसरे चित्र में ऐसा बताओ कि चोंच में कमल-पत्रों की दोनी में पानी लेकर हंस वापिस आया और पत्नी तथा बच्चों के वियोग में व्याकुल होकर, अग्नि में स्वाहा हो गया ।

''फिर ?''

''फिर इस चित्रफलक को किसी तरह राजकुमारी के पास पहुंचाओ । इन चित्रों को देख कर राजकुमारी को अपने पूर्वभव का स्मरण होगा और उसका पुरुष-द्वेष पिघल जाएगा । तब राजकुमारी विवाह के लिए उत्सुक हो जायेगी और वह चित्रसेन के साथ ही विवाह करेगी ।''

रत्नसार और चित्रसेन, दोनों खूब प्रसन्न हुए... मुनि को प्रणाम करके दोनों, राजा पद्मरथ की राजधानी पद्मपुर पहुंचे... वहां एक धर्मशाला में ठहरे ।

रत्नसार ने ब्रुश, रंग और चित्रफलक आदि सब साधन खरीद लिए । चित्रसेन ने हंस-हंसनी की सभी पूर्व-घटनाओं सम्बन्धी तीन चित्र बनाए... रत्नसार उन्हें लेकर चौराहे पर आया और एक स्तम्भ पर टांग दिए । चित्र बहुत ही सजीव और सुन्दर थे ।

जो कोई भी वहां से निकलता, उन चित्रों को देखने खड़ा हो जाता । पद्मावती की दासी को भी वे चित्र अच्छे लगे । उसने राजकुमारी से कहा :-

''राजकुमारी ! एक चित्रकार बहुत बढ़िया चित्र लेकर आया



है । आप देखोगी तो दंग रह जाओगी ।''

''ऐसी बात है ?'' राजकुमारी ने कौतूहलवश होकर कहा - तो फिर खरीद कर ही ले आ... मैं उन्हें अपने कमरे में रखूंगी ।''

''सखी ! चित्रकार चित्र बेचता नहीं, बस केवल वह दिखाता ही है ।''

''तो फिर मुझे भी देखने हैं वे चित्र ?''

राजकुमारी की दासी रत्नसार के पास पहुंची और बोली :-

''जरा, अपना चित्र मुझे दिखला दे... हमारी राजकुमारी इसे देखना चाहती है ।''

''मैं किसी को देता नहीं । राजकुमारी ने देखना है,तो मैं स्वयं आकर दिखाउंगा । चलो, मैं आपके साथ ही चलता हूं ।''

चित्र लेकर रत्नसार, राजकुमारी पद्मावती के पास पहुंचा । पुरुष-द्वेषिणी राजकुमारी पद्मावती रत्नसार की तरफ पीठ करके खड़ी हो गई... और हंस युगल का चित्र देखने लगी । उसे लगा कि यह दृश्य मैंने कहीं देखा है । यह जोडा... वन में अग्नि, सरोवर में पानी... ।''

राजकुमारी सोचने लगी... उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और अपना पूर्वभव उसके सामने आ गया ।

अब वह अपने हंस को देखने के लिए आकुल-व्याकुल होने लगी । वह सोचने लगी - ''जैसे मैंने यहां राजकुमारी के रूप में जन्म लिया है, उसी तरह मेरे हंस ने भी कहीं न कहीं जरूर जन्म लिया होगा ।''

राजकुमारी को मौन देख कर रत्नसार ने पूछा :- ''चित्र आपको कैसा लगा ?''



सुनते ही राजकुमारी का पुरुष-द्वेष एक झटके के साथ दूर हो गया और रत्नसार की ओर मुख करके बोली :- "कहां से लाए हो ये चित्र ?"

"राजकुमारी, जो हंस अपनी हंसिनी के वियोग से जल कर मर गया था, उसी ने बनाए हैं ये चित्र..."

राजकुमारी विस्फारित नेत्रों से उसे देखने लगी, भावावेश में बोली :- "कहां है मेरा हंस ? मुझे कैसे मिलेगा ? कहां मिलेगा ? मैं उसके बिना अब जी नहीं पाऊंगी ।"

"मिलेगा राजकुमारी ! उसी हंस ने एक राजकुमार के रूप में जन्म लिया है । परन्तु क्या आप उसे पहचान सकोगी ?

"क्यों नहीं ! उसने तो मात्र पिंजरा ही बदला है । पक्षी तो वही है । आत्मा, आत्मा को पहचानती है ।"

"तो फिर आप स्वयंवर रचाओ । मैं अपने मित्र को लेकर आऊंगा ।"

रत्नसार इतनी बात करके धर्मशाला में पहुंच गया । जाकर सारा वृतान्त मित्र को सुनाया :-

"मित्र ! अब उसका पुरुष-द्वेष दूर हो गया है - अब तो वह आपके लिए उतनी ही व्याकुल है, जितना उसके लिए आप...।"

चित्रसेन ने कुछ कहना चाहा, परन्तु इससे पहले ही रत्नसार ने उसके मन की बात कह दी -

"धैर्य तो रखो ! स्वयंवर में जाएंगे । सब काम समय पर होंगे ।" चित्रसेन अस्वस्थ सा हो गया ।

इस तरफ... राजा पद्मरथ को पता चला कि राजकुमारी का पुरुष-द्वेष पूरा हो गया है और वह पुरुष की सार्थकता को समझने लगी है... तब मानों राजा को सब कुछ मिल गया।



पद्मावती के नर-द्वेष के कारण राजा बहुत चिन्तातुर रहता था ।

अब उसने स्वयंवर की योजना बनाई । दूर-दूर से राजा एवं राजकुमार स्वयंवर में आए ।

चित्रसेन और रत्नसार भी वहाँ आ पहुंचे ।

राजकुमारी पद्मावती वर-माला लेकर वर की पसंदगी करने लगी, साथ की सखियां विवाह के लिए आए हुए राजा-राजकुमारों का परिचय करा रही थीं ।

चित्रसेन बहुत सादी पोशाक में आया था ।

दूसरे राजाओं की तरह उसके साथ अंगरक्षक और सेना भी नहीं थी, आभूषण और मुकुट भी नहीं पहने हुए था ।

परन्तु उसका रूप ऐसा था कि छिपाए से छिप न सके ।

क्रमशः चलते-चलते पद्मावती चित्रसेन के सामने आकर अटक गई । आत्मा ने आत्मा को पहचान लिया... समागत राजाओं के बीच में वह... जैसे वन के बीच में वृक्ष... वृक्ष के उपर बैठा हंस दिखाई दे रहा हो... उसे इस तरह मौन एवं स्थिर देख कर एक सखी ने पूछा :-

"राजकुमारी ! इसका परिचय तो हम में से किसी को भी नहीं । यह स्वयं महाराजा भी नहीं... आप आगे बढ़िये ।"

उत्तर दिया राजकुमारी के हाथों ने चित्रसेन के गले में वर-माला डाल कर, और धीरे से कह भी दिया :-

"मैं जानती हूं इसका परिचय... यह मेरा पूर्व-भव का प्रियतम है ।"

स्वयंवर सभा में शोर-गुल होने लगा..... ऐसा होता ही है ।



राजाओं ने कहा :-

"यह राज-मर्यादा का अपमान है... राजकुमारी हम में से चाहे किसी के साथ भी शादी कर सकती है... ऐसे-वैसे के साथ नहीं ।"

राजा पद्मरथ की किंकर्तव्यविमूढ़ता को देख कर रत्नसार कुछ कहना चाहता था किन्तु दण्डधर ने तीन बार दण्ड ठोक कर 'मर्यादा-मर्यादा' कहा । तब सब शान्त हो गए । रत्नसार ने अपने आसन पर खड़े हो कर कहा :-

"सब सुनिए ! जिस राजकुमार की पसंदगी राजकुमारी जी ने की है... वे कलिंग देश के राजकुमार चित्रसेन हैं ।"

जिस तरह दावानल पर बरसात पड़े... तो वह शान्त हो जाता है, उसी तरह स्वयंवर-सभा शान्त हो गई... अब राजा पद्मरथ ने अपना कर्तव्य पूरा करते हुए कहा :-

"आगन्तुक राजाओ ! मैं आपका बहुत आभारी हूं... आप ने इस स्वयंवर की शोभा बढ़ाई है... अब यह सभा विसर्जन होती है ।"

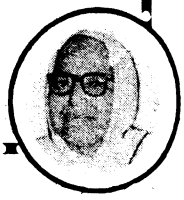
सबको वापिस जाना पड़ा ! आखिर एक तो एक को ही मिलनी थी - धूमधाम से दोनों का विवाह हो गया ।

राजा पद्मरथ ने कन्यादान में बहुत कुछ दिया... रथ, सेना, हाथी, घोड़े और धन आदि सब कुछ दिया । चित्रसेन अपनी प्रियतमा के साथ ससुराल में ही रहने लगा ।

विवाह के अनन्तर रत्नसार, चित्रसेन को कुछ दिनो का अन्तर रख कर पहले की भान्ति मिलता रहा ।

समय बीतता गया...

ससुराल में सब प्रकार का सुख भोगते हुए भी उसे अपने माता-



पिता की याद सताती... अपनी जन्म-भूमि याद आती ।

और एक दिन...

चित्रसेन ने राजा पद्मरथ से वसन्तपुर जाने की आज्ञा मांगी । पद्मरथ भी कैसे रोक सकता था ? उसे आज्ञा देनी पड़ी ।

अंगरक्षकों तथा चारों प्रकार की सेना और धन-सम्पत्ति के साथ चित्रसेन ने बसन्तपुर की ओर प्रस्थान किया । पद्मावती की सेवा के लिए उसकी सखी-समान दासियां भी थीं । पद्मावती रथ में थीं... चित्रसेन और रत्नसार दो घोड़ों पर थे । चलते रहे-चलते रहे सायंकाल के समय वे एक वन में पहुंचे ।

यहां सब ने पड़ाव डाला... जिसे जहां जगह मिली, वहीं सो गया... राजकुमार चित्रसेन और पद्मावती रथ में ही सो गए ।

रत्नसार थोड़ी दूर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर पहरा देने लगा।

आधी रात का समय था... सब सो रहे थे ।

जिस वृक्ष के नीचे रत्नसार बैठा था... उस पर एक यक्ष-दंपति रहते थे... वे दोनों बातें कर रहे थे... रत्नसार कान देकर सुनने लगा... यक्षिणी ने यक्ष से पूछा :-

"स्वामिन् ! आज आप क्या सोच रहे हो ?"

"प्रिये ! इस राजकुमार के बारे में सोच रहा हूं ।"

"कौन है यह ?"

"बसन्तपुर के राजा वीरसेन का पुत्र-चित्रसेन ।"

"तो क्या सोच रहे हैं इसके विषय में आप ?"

"प्रिये ! यह तो खूब आनन्द से अपने नगर जा रहा है परन्तु वास्तव में यह मौत के मुंह में जा रहा है ।"

"मौत ?" यक्षिणी ने पूछा, "कैसे होगी इसकी मौत ?"



"प्रिये !" यक्ष ने कहा, "जब यह वसन्तपुर से चला था, तब इसकी माता महारानी रत्नमाला तो मृत्यु को प्राप्त हुई और इसके पिता राजा वीरसेन ने दूसरा विवाह कर लिया । चित्रसेन की सौतेली माता इसे मारने के तीन उपाय करेगी । वह सुनो...

पहले एक दुष्ट घोड़ा चित्रसेन के लिए भेजेगी...वह घोड़ा इसे मार डालेगा ! यदि उस से बच गया तो प्रवेश द्वार के उपर से एक, ऐसा यन्त्र चित्रसेन के उपर पड़ेगा कि जिससे उसकी मृत्यु हो जाएगी ! ऐसी व्यवस्था चित्रसेन की सौतेली माता ने की है ! यदि उसमें से भी बच गया तो चित्रसेन को जहर के लडडू खिला कर मार डालेगी !

यक्षिणी ने कहा :—

आप इतना सब जानते हो तो यह भी बताओ कि राजकुमार इन तीन मृत्यु संकटों में से कैसे बचेगा ?

"प्रिये ! इस समय यदि कोई अपनी बातें सुन रहा हो तो वह चुप-चाप उपाय करे, राजकुमार को बताए बिना । तो चित्रसेन बच जाएगा !"

" बताये तो क्या होगा ?" यक्षिणी ने पूछा ।

यक्ष ने कहा ---

" प्रिये ! यदि राजकुमार को इन उपायों के विषय में पता लग गया तो वह पत्थर बन जाऐगा !"

यक्षिणी थोड़ा घबरा गई... थोडी देर मौन रही... फिर बोली.

" फिर तो कोई बात नहीं होगीं न ?"

" प्रिये ! इन तीनों घटनाओं से बचने के बाद राजकुमार चित्रसेन पिता का राज्य प्राप्त करके कलिंग देश का राजा बन जायेगा... परन्तु एक चौथा मृत्यु संकट इसके उपर फिर



आएगा !

एक रात एक काला नाग राजकुमार को काटेगा ! यदि कोई मेरे इस संवाद को सुन कर राज-पुत्र का रात्रि-प्रहरी बन कर इस सांप से राजकुमार का रक्षण करेगा! तो फिर चित्रसेन बहुत समय तक कलिंग की प्रजा का पालन करेगा और अपने युवा पुत्र को राज्य देकर मुनि-दीक्षा ले लेगा !

यक्षिणी ने एक निःश्वास छोड़ा !

सुबह होने की तैयारी थी !

सोने वाले सब जागने लगे थे !

रत्नसार ने यक्ष की सब बातें सुन लीं ! योग्य समय दल-बल सहित चित्रसेन बसंतपुर की ओर चल पड़ा ! चलते-चलते क्रमशः वसन्तपुर पहुंच गए... उन्होंने नगर से बाहर उद्यान में अपना पड़ाव डाला !

रत्नसार अपनी धुन में था !

सौतेली माता ने राजकुमार के लिए एक घोड़ा भेजा परन्तु रत्नसार ने उस घोड़े को हटा कर तुरन्त एक सफेद घोड़ा राजकुमार चित्रसेन को दिया !

राजकुमार सकुशल प्रवेश द्वार तक पहुंच गया ! प्रवेश के समय रत्नसार ने चित्रसेन का घोड़ा एकदम पीछे कर दिया ! यन्त्र खाली धरती पर गिर पड़ा... और चित्रसेन इस तरह दूसरी योजना से भी बच गया !

अब रत्नसार ने महल में पहुंचने पर रसोई घर का निरीक्षण किया ! एक थाल में लड्डु रखे थे ! रत्नसार ने रसोइए से पूछा --

" ये लडडु अलग किस लिए रखे हैं ?"



रसोइए को जो पता था वह उसने बतला दिया :—

" ये लड्डु महारानी ने राजकुमार के लिए बड़े प्रेम से बनवाए हैं ! वह स्वयं अपने हाथ से चित्रसेन को खिलाएगी !" रत्नसार ने बहुत ही चतुराई से वैसे ही लड्डु बना कर उन लड्डुओं के स्थान पर रख दिए और रानी के बनवाये हुए लड्डु फेंक दिए । वीरसेन की नई रानी ने बहुत ही प्रेम से वे लड्डु राजकुमार को परोसे... चित्रसेन ने भी बहुत प्रेम से खाए ... परन्तु उसका बाल भी बांका न हुआ !

रानी द्वारा किए षडयंत्र में राजा भी शामिल था ! राजा-रानी ने जब सभी प्रयत्न निष्फल होते देखे तो उन्हें ग्लानि हो गई !

उन्हीं दिनों एक मुनि बसंतपुर आए ! राजा-रानी ने उनका उपदेश सुना...वैराग्य आया... चित्रसेन को राजा बना कर उन दोनों ने दीक्षा ले ली !

चित्रसेन अब सुशासक के रुप में प्रजा का पालन करने लगा ! उधर रत्नसार को अब चौथे मृत्यु-सकंट की चिन्ता थी... उसने हठ करके राजा चित्रसेन की रात की पहरेदारी स्वीकार की !

जितनी शान्ति से राजा चित्रसेन और रानी पद्मावती सो रहे थे, उतनी ही अशान्ति से रत्नसार रात का पहरा दे रहा था !

अन्त में नाग-रात्री भी आ गयी !

एक काला नाग अन्दर घुस आया...

रत्नसार तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चला । सोने के कमरे में प्रकाश था -- सर्प, राजा चित्रसेन के पलंग पर चढ़ने लगा !

रत्नसार ने तलवार की नोंक से नाग को उठाया और उसके चार टुकडे कर दिए । उसकी इस हरकत से कुछ खून के बिन्दु



रानी पद्मावती की जांघ पर गिर पड़े !

रत्नसार ने सोचा --

जहरीले सांप के खून के बिन्दु रानी के लिए घातक हो सकते हैं... अतः वह अपने उत्तरीय से उन बिन्दुओं को पोंछने लग गया. ठीक उसी समय चित्रसेन की आंख खुल गई, उसने रत्नसार को रानी की जांघ का स्पर्श करते देखा उसकी आखों में खून बरसने लगा, उसने रत्नसार को फटकारते हुए कहा---

" यदि तूं मेरा मित्र न होता तो मैं तुझे कुछ न पूछता. और तेरा सिर धड़ से अलग कर देता ! मित्र के नाते तुझे पूछता हूं कि तूं इतनी नीची हरकतों पर क्यों उतर आया ?"

रत्नसार अब भारी संकट में आ गया... यदि वह सब सत्य बात कहे तो पत्थर बन जाए और यदि न कहे तो चित्रसेन के मन मे शंका ज्यादा मजबूत हो जाए... अतः वह मौन रहा !

चित्रसेन ने फिर शंका से कहा --

"नराधम ! इसीलिए तूं मेरा रात्रि रक्षक-प्रहरी बना था ? चुप क्यों है ? बोलता क्यों नहीं ? रानी की जांघ का स्पर्श तूने किस विचार से किया था ?"

" राजन् ! जिस तरह आपने मेरा आज तक विश्वास रखा है, उसी तरह रखो ! मैं आपको कारण बताऊंगा तो मैं पत्थर बन जाऊंगा और फिर आपको पछताना पडेगा !"

होनी बड़ी बलवान होती है ! रत्नसार के इस कथन को राजा ने 'एक बहाना' समझा ! अतः हठ करके बोला --

" अब तो तुझे कहना ही पड़ेगा... मैं जाने बिना मानूंगा नहीं ! " होनहार के आगे रत्नसार को भी झुकना पड़ा...उसने यक्ष का वार्तालाप शुरु किया कि तुरन्त पैर के नख पत्थर बन



गए !

घोडे से बचने की घटना तक की बात कहते-कहते उसके जांघ तक का भाग पत्थर का बन गया !... इसी तरह... नाभि-छाती-कंठ और जांघ के खून को पोंछने की बात करते तो सारे का सारा पत्थर का बन गया !

अब तो चित्रसेन खूब रोया... खूब पश्चाताप किया...प्रलाप करते-करते उसने संकल्प किया---

" ऐसे गुणवान और हितैषी मित्र की मृत्यु का कारण मैं बना हूं -- अतः अब मैं चिताशयन ही करुंगा !"

रानी पद्मावती ने बहुत समझाया --

" स्वामी ! चिताशयन करने से क्या आप अपने मित्र को पुनः प्राप्त कर सकोगे ?"

" चित्रसेन ने अपना संकल्प पुनः दृढ़ रखते हुए कहा--

रानी ! जिस रत्नसार के कारण तूं मुझे मिली और रत्नसार ने तुझे विधवा न बनने दिया, उस रत्नसार के बिना मैं कैसे जीवित रह सकता हूं ? यदि अन्य किसी ने मेरे मित्र को मेरे से छीन लिया होता तो क्या मैं उसे मृत्यु-दण्ड न देता ? अतः न्याय की दृष्टि से भी मेरा चिताशयन ही प्रायश्चित है !'

पद्मावती ने कहा --

"स्वामी ! जैसे आपके मित्र ने आपके जीवन का रक्षण किया था, उसी तरह आप भी उसे नया जीवन देने का उपाय करें! यही मित्र-धर्म है ! चिताशयन, यह तो शोक का खोखलापन है!"

जिस तरह डूबते इन्सान के हाथ में कोई रस्सी पकड़ा दे और बचने की आशा से डूबते-डूबते जैसी प्रसन्नता उसे होती है वैसी ही प्रसन्नता चित्रसेन को पद्मावती की सलाह से हुई !



आशा से प्रफुल्लित राजा ने रानी को कहा --

" अरे, तो फिर बताओ कोई उपाय... मैं तो अपने मित्र के लिए सब कुछ करने को तैयार हूं !"

रानी ने उपाय बताया --

" स्वामी ! एक दानशाला खोलें और अपने हाथों से दान देना आरम्भ करें ! कभी कोई याचक रुप में सिद्ध-महात्मा आ जाएगा तो आपके मित्र को जीवित कर देगा... ऐसा मेरा पूर्ण हार्दिक विश्वास है !

राजा को यह विचार बहुत अच्छा लगा !

रत्नसार के पत्थर के देह को उसने एक सुरक्षित स्थान पर रखवा दिया ! दानशाला शुरु करा कर एक दानवीर की भान्ति रोज आते-जाते याचकों को दान देने लगा !

सभी प्रकार के याचक आते थे, दान लेने !

तपस्वी,सन्त,महात्मा भी आते थे, परन्तु ऐसा कोई सिद्ध पुरुष न आया कि जो पत्थर स्वरुप रत्नसार को जीवित कर दे !

समय बीतता गया !

एक दिन राजा के मन में विचार आया--

" जिस यक्ष ने मेरी मृत्यु के उपाय बताए थे, उसी के पास क्यों न जाया जाए ?"

बस, चित्रसेन ने विचार के अनुरुप आचरण किया...पहुंच गया उसी जंगल में... जहां वह 'उस' रात रुका था !

यक्ष के निवास वाले वृक्ष के नीचे बैठ कर चित्रसेन ने यक्ष की आराधना की ! यक्ष उस पर प्रसन्न हुआ ! यक्ष-दर्शन की आशा लेकर वह उसी वृक्ष के नीचे सो गया ।

रात को यक्ष-यक्षिणी के बीच बातचीत शुरु हुई । यक्षिणी ने यक्ष से कहा --



"स्वामी ! अब रत्नसार क्या पुनः मनुष्य नहीं बन सकता ?"

" बन तो जाएगा...परन्तु उसका उपाय करना पड़ेगा " यक्ष ने बताया !

" तो फिर उपाय बताओ नं ?"

" प्रिये ! परम पतिव्रता विशुद्ध शील-वाली कोई नारी अपने नवजात पुत्र को लेकर पत्थर के रत्नसार का स्पर्श करे तो वह पुनः नरदेही बन जाएगा ! "

चित्रसेन ने सोए-सोए ही सब सुन लिया और परोक्ष-यक्ष को प्रणाम करके बसन्तपुर वापिस आ गया !

इन्हीं दिनों रानी पद्मावती प्रसूता थी.. अपने नवजात पुत्र को गोद में लेकर रानी पद्मावती ने पत्थर बने रत्नसार को स्पर्श किया... वह पंच परमेष्ठी का स्मरण करता-करता जीवित हो गया !

दोनों मित्र भाव-विभोर होकर परस्पर मिले !

चित्रसेन ने अश्रु-भीनी आंखो से रत्नसार से क्षमा मांगी !

रत्नसार ने उसे सांत्वना दी !

" दुखी न होओ मित्र ! न तूने कुछ किया, न मैंने कुछ किया । हम सब तो दैव के हाथ की कठपुतली हैं... अब सब ठीक हो गया है ।

चित्रसेन - पद्मावती-रत्नसार पूर्ववत आनन्द से रहने लगे । बहुत वर्ष उसने राज्य किया । पुत्र भी बड़ा हो गया ।

एक बार फिर ज्ञानी-मुनि बसंतपुर आए । राजा-रानी आदि सभी दर्शन करने गए । देशना सुन कर राजा-रानी-रत्नसार को वैराग्य हो गया । अपने पुत्र को राज्य सौंप कर चित्रसेन ने दीक्षा ले ली ।

पद्मावती और रत्नसार ने भी दीक्षा ले ली !

चारित्र का पालन करके तीनों ने स्वर्ग सुख प्राप्त किया ।



आचार्य वादिदेव सूरि जी म0

आबू से प्रायः ४० कि.मि. दूरी पर मण्डार गांव में वीरनाग नामक पोरवाल श्रेष्ठी था। उसकी पत्नी का नाम था जिनदेवी। इनके परिवार ने आचार्य मुनिचन्द्र सूरि जी को गुरु रुप में, धारण किया हुआ था।

एक बार जिनदेवी ने स्वप्न में, मुख में चन्द्र को प्रवेश करते देखा। तदनुसार सम्वत ११४३, माघ वदि छठ, सोमवार हस्त नक्षत्र में चन्द्र सम सौम्य बालक को जन्म दिया। उसका नाम स्वप्नानुसार पूर्णचन्द्र रखा।

पूर्णचन्द्र अभी बालवय में ही था कि एक बार दुष्काल पड़ा। वीरनाग सेठ परिवार सहित मण्डार छोड़ कर भरुच चला गया। कुछ दिन बाद अनायास ही मुनिचन्द्र आचार्य वहां पधारे। वीरनाग की स्थिति जान कर श्रावकों से सहायता दिलाई। वीरनाग का, कुटुम्ब सह निर्वाह होने लगा।

क्रमशः पूर्णचन्द्र आठ वर्ष का हुआ। वह नियत घरों में, कपड़ा लेकर बेचने जाता। फेरी करता। सब परिचित हो गए। अतः बच्चे को खाने के लिए वस्तु देते रहते। एक सेठ के घर का स्वर्ण व रुपया सब पापोदय से कोयला बन गया था। अतः घर के एक कोने में कचरे के ढेर पर वह सब कोयला मान, डाल दिया।

एक दिन पूर्णचन्द्र फिरता- फिरता जब उस घर में भी गया तो कचरे में सोना पड़ा देख कर पूछा :-

"सेठ जी ! यह सारा सोना- सारा धन कचरे में क्यों फेंका ?"



सेठ बुद्धिशाली था, अनुभवी था । समझ गया कि इस बच्चे को यह कोयला सोना दिखता है, भाग्यशाली है । सेठ ने उसे एक छाबड़ी देते हुए कहा :-

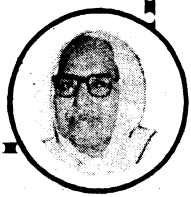
"बेटा ! तूं यह धन बांस की इस छाबड़ी में भर-भर कर मुझे देता जा । मैं अन्दर पहुंचाता जाऊंगा ।"

इस प्रकार बच्चे के स्पर्श से सारा कोयला सोना बन गया । जाते समय सेठ ने पूर्णचन्द्र को भी एक सोना मोहर दे दी । उसने अपने बाप को दी और सब बात बताई । कानों कान धीरे धीरे यह बात नगर में फैल गई । आचार्य मुनिचन्द्र जी को भी जब पता चला तब उन्होंने वीरनाग से कहा :-

लक्ष्मी इस बच्चे को वरना चाहती है । साधु बने तो शासन की प्रभावना करेगा । घर में रहे तो खूब धनवान बनेगा । कुल दीपक तो अनेक हो सकते हैं, पर शासन दीपक विरले ही बनते हैं ।"

इत्यादि प्रेरक मार्गदर्शन पाकर माता-पिता ने एक-लौते बेटे पूर्णचन्द्र को दीक्षा दे दी । नाम रामचन्द्र विजय रखा गया । श्री संघ ने, रामचन्द्र के माता-पिता जीवन पर्यन्त सुख से निर्वाह कर सकें, ऐसी व्यवस्था कर दी ।

मुनि रामचन्द्र ने व्याकरण- साहित्य- सिद्धांत- न्यायादि ग्रन्थों का सचोट अध्ययन किया । अल्प समय में ही ज्ञान बल से उन्होंने वाद- विवाद करने की शक्ति प्राप्त कर ली । कुछ ही समय में अनेक प्रदेशों के ब्राह्मणों, पण्डितों, दिगम्बरों, विद्वानों को हरा कर "वादि" नाम से प्रख्यात हो गए । आचार्य बन कर धीरे धीरे वादि से आचार्य वादि देव सूरि के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर ली । खूब प्रतिष्ठा- आदि शासन के कार्य करने लगे ।



एक बार धोलका में भगवान सीमन्धर स्वामी जी की प्रतिमा सेठ उदयचन्द ने भराई (बनवाई) थी । वह सोच रहा था कि अंजनशलाका- प्रतिष्ठा किसी समर्थ गुरुदेव से कराऊं । इसी हेतु उसने अट्ठम किया, तो शासन देवी ने उसे कहा :-

"युगप्रधान आचार्य वादि देवसूरि के हाथ से प्रतिष्ठा कराना ।"

उस समय आचार्य प्रवर विहार में थे । पता करके उनके पास गए, विनती की और फिर धूमधाम से उनका नगर प्रवेश करा कर, उन्हीं के हाथ से प्रतिष्ठा कराई ।

तत्पश्चात् धोलका से नागोर तरफ विहार किया । गांव-गांव, नगर-नगर में वीतराग की वाणी का सन्देश जन-जन को देते रहे । मार्ग में पाटण शहर भी आया । वहां का मन्त्री अम्बाप्रसाद आपके व्याख्यानों से प्रभावित होकर कुछ दिन विहार में भी साथ ही रहा । एक दिन अम्बा प्रसाद को सांप ने डंक मारा (काटा), बहुत उपाय किए गए, पर विष उतरा नहीं । तब आचार्य वादिदेव सूरि जी के पाद-प्रक्षालन के जल से विष निर्मूल हो गया । मन्त्री एकदम स्वस्थ हो गया ।

एक दिन मन्दिर जी में भक्ति भावना सभी कर रहे थे । तब अम्बा माता प्रत्यक्ष हो कर बोली :-

"गुरुदेव ! आचार्य मुनिचन्द्र जी की, आपके गुरु जी की आयु केवल आठ मास शेष है । अतः आप वापिस पाटण पधारो ।" देवी की बात मान कर पाटण वापिस पधारे । ठीक आठ मास बाद मुनिचन्द्र सूरि जी सम्वत ११७८ में अनशन कर स्वर्ग सिधारे । आप गुरु वियोग के कारण कई दिन उदास रहे ।



इसी बीच भागवत दर्शन का उद्‌भट विद्वान, जिसे देवबोधि नाम से पुकारते थे, पाटण आया । वह वादमस्त राजसभा में गया । वहां द्वार पर एक श्लोक लिख, पाटीया लटकाया । उस श्लोक का अर्थ करने अर्थात देवबोधि को जीतने, कोई विद्वान न आया । छः मास व्यतीत हो गए ।

पाटण का राजा सिद्धराज व्याकुल हो गया कि मेरे राज्य में इसके साथ वाद करने को, टक्कर लेने को कोई भी विद्वान तैयार नहीं । उसे उदास देख, एक दिन मन्त्री अम्बा प्रसाद ने राजा को सूचना दी :-

"वादि देवसूरि प्रकाण्ड विद्वान हैं । वे इस श्लोक का परमार्थ बता सकेंगें, ऐसा मुझे विश्वास है । आप सम्मान सहित उन्हें बुलवा लीजिए ।"

राजा सिद्धराज के मन में खुशी की एक तरंग उठी । उसने गुरुदेव को बुलवाया । वे आए । उन्होंने श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया :-

चार्वाक, वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, प्रभाकर, मीमांसक ऐसे अनेक दर्शन हैं, इनमें से कोई केवल प्रत्यक्ष प्रमाण, कोई प्रत्यक्ष और अनुमान-२, कोइ प्रत्यक्ष- अनुमान को आगम सहित तीन, उपमान सहित चार, अर्थापत्ति सह पांच, अभाव सहित छः मानते हैं । मात्र मैं देवबोधि यदि रुष्ट हो जाऊं तो छः दर्शन या अनेक दर्शनों में से एक भी न रहे ।"

इस खुलासे से देवबोधि को आनन्द भी हुआ और आश्चर्य भी हुआ । राजा भी खुश हो गया । उसने चातुर्मास पाटण में ही करने की गुरुदेव को विनती की । आचार्य वादिदेव सूरि जी ने विनती



स्वीकार कर, उस वर्ष का चातुर्मास वहीं किया । तत्पश्चात् आगामी वर्ष का चातुर्मास कर्णावती में किया ।

कर्णाटक के राजगुरु दिगम्बराचार्य, वादी कुमुदचन्द्र जी का उस वर्ष का चातुर्मास पाटण में था । उस का वादि देवसूरि जी के साथ वाद करने का मन चाहा । अतः उसने वाचाल चारणों को सिखला कर आचार्य वादि देवसूरि के पास उन्हें भड़काने के लिए भेजा ।

एक बार वादी कुमुदचन्द्र जी ने एक वृद्ध साध्वी सरस्वती जी की कभी कदर्थना की थी । वे साध्वी जी इस चातुर्मास में कर्णावती में आचार्य वादिदेव सूरि जी के पास वन्दनार्थ आईं । वन्दना करके उत्तेजक वाणी में कहना शुरु किया :-

"बड़े महाराज (आ० मुनिचंद्र सूरि जी) ने आपको आचार्य बनाया है, क्या विडम्बना देखने के लिए ? तुम्हारी विद्वत्ता किस काम आएगी ? तुम्हारा बड़प्पन किस काम का ? शत्रु को जो न जीते वह शास्त्र किस काम का ? अक्षम्य पराभव बढ़ता जाए वह समता किस काम की ? उस की दुष्टता का फल तो जब मिलना होगा तब मिलेगा किन्तु तुम्हारे आश्रित संघ तो तुम्हारे समभाव से पतन को प्राप्त करेंगें ।"

आचार्य श्री ने सब धैर्यपूर्वक सुना और साध्वी को समझा बुझा कर, शान्त करके उपासरे भेज दिया । उसी ही दिन पाटण के श्री संघ को, पण्डित माणेकचन्द के पास से पत्र लिखवाया कि आपके वहां पाटण में जो दिगम्बर वादी है, वह वाद करना चाहता है । अतः हमारी इच्छा है उसके साथ पाटण में ही शास्त्रार्थ करने की । हम इसी कारण पाटण आना चाहते हैं, आदि ।

पत्र पाटण पहुंचा । श्री संघ ने आचार्य श्री को अतिशीघ्र पाटन



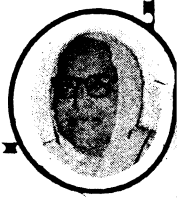
पधारने के लिए विनति रुप पत्र लिखाः-

"श्री संघ की रक्षा व महत्ता आपके हाथ में है । यहां का राजा सिद्धराज विद्वान व न्यायी है । अतः राजसभा में ही शास्त्रार्थ करना । हम समस्त श्री संघ आप श्री जी की विजय देखने को उत्सुक हैं । जब तक शास्त्रार्थ चलता रहेगा, हार जीत का जब तक निर्णय न होगा, तब तक श्री संघ में नित्य आंबिल तप चालू करने का हमने निर्णय लिया है ।"

इस प्रकार संघ की स्वीकृति मिल जाने पर आचार्य वादि देव सूरि जी, कुमुद चन्द्र जी को भी सूचित करके, पाटण पधारे । श्री संघ ने धन खर्च कर जीतना चाहा । परन्तु आचार्य श्री जी ने कहा कि "धन से खरीदी विजय, पराजय समान है ।"

शास्त्रार्थ राजसभा में ही होना था । राजमाता मयणल्ल देवी भी विदुषि थीं । वे भी शास्त्रार्थ सभा में बैठने वाली थीं । आचार्य वादिदेवसूरि जी के साथ, जिन्हें २१ वर्षकी आयु में आचार्य पद से विभूषित किया था, ऐसे आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी भी आए हुए थे । राजमाता मयणल्ल देवी पीयर पक्ष में दिगम्बर है, ऐसा जान कर आचार्य श्री ने युवाचार्य हेमचन्द्र सूरि जी को राजमहल में भेजा । वे राजमाता से मिले और कहा :-

"राजमाता जी ! राजसभा में शास्त्रार्थ होगा । उस में दिगम्बर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि स्त्रियों का किया धर्म व्यर्थ जाता है । और श्वेताम्बर यह सिद्ध करने वाले हैं कि स्त्रियों का किया धर्म व्यर्थ नहीं जाता ।" इस पर राजमाता ने अनेक प्रश्न पूछ कर युक्ति पूर्वक पूरी छानबीन करके तसल्ली पूर्वक, आचार्य हेमचन्द्र सूरि की बात सत्य व तथ्य वाली जान कर, दिगम्बर पक्ष का त्याग कर दिया ।



राजा ने शास्त्रार्थ के लिए सम्वत ११८१ शुदि १५ का दिन निश्चित किया । अनेक पण्डित विद्वान दूर-दूर से उस शास्त्रार्थ को देखने-सुनने के लिए उस दिन एकत्रित हुए थे । प्रायः सभी उपस्थित हो गए थे, पर शुभ वेला में अभी शास्त्रार्थ का प्रारम्भ होना था । अतः कुछ समय शेष था । समय व्यतीत करने लिए विद्वानों के योग्य शब्दार्थ का मनोरंजन (मजाक) चला । आचार्य कुमुदचन्द्र जी ने हेमचन्द्र सूरि जी को पूछा :- "तक्रम् पीतम् ?" अर्थात् छाछ पी है ? पीतम् का अर्थ पीने अर्थ में और पीला रगं के अर्थ में भी प्रयोग होता है । अतः आ० हेमचन्द्र जी बोले :-

" आप असत्य क्यों बोलते हो ? तक्रं तु श्वेतं भवति न तु पीतम् । (छाछ सफेद होती है पीली नहीं) ।" कुमुदचन्द्र इस उत्तर से कुछ चिढ़ गए बोले :-

" तू अभी बालक है । तेरे साथ वाद क्या करना ?"

आचार्य हेमचन्द्र बोले :-

" बाल कौन होता है ? जो लंगोटी भी नहीं पहनता, वही बाल है । आप देखते हो मैं ने तो कपड़े पहन रखे हैं । अतः बाल कौन है, आप ही निर्णय करो । "

कुमुदचन्द्र का मुंह लज्जा से नम गया । झल्ला कर गुस्से से बोले :-

" अब आप पलायन करो । "

पास बैठें आचार्य वादिदेवसूरि जी ने कहा :-

" जिसे शास्त्रार्थ की कीमत नहीं, वही पलायन करे ।"

उसी समय राजा ने शास्त्रार्थ प्रारम्भ करने को कहा । दिगम्बरों



का अर्थात कुमुदचन्द्र का मत था कि केवली आहार नहीं करता,वस्त्रधारी का निर्वाण नहीं और स्त्री का मोक्ष नहीं होता । इन तीनों बातों का श्वेताम्बरों ने अर्थात् आचार्य वादिदेव सूरि जी ने निषेध किया । २५ दिन व्यतीत हो गए, अपने अपने पक्ष को सिद्ध करते हुए । ५०० प्रश्नोत्तर इस ,सम्बन्ध में हुए । आचार्य वादिदेव सूरि जी ने , वादिवेताल आचार्य शान्तिसूरि जी के लिखे, स्त्री मुक्ति के सम्बन्ध में, " उत्तराज्झयण " पाइय वृत्ति के आधार पर अनेक विकल्पों के उपन्यास किए । कुमुदचन्द्र उन्हें ठीक तरह धार न सके (याद रख न सके) तब कपड़े पर लिखने को कहा । इस पर शास्त्रार्थ सभा के पण्डित महर्षि ने घोषित किया कि वादि, वाद को लिखने के लिए कहता है, अतः अब मौखिक वाद समाप्त होता है । इस मौखिक वाद में श्वेताम्बर जीते हैं । तत्पश्चात लिखित वाद हुआ । उसमें भी श्वेताम्बर जीते । तब कुमुदचन्द्र ने मन्त्र-का आधार लिया, उसमें भी हारा ।

आचार्य वादिदेवसूरि जी ने राजा से विनती की कि पराजित का अपमान नहीं करना । जो हारे वह पक्ष गुजरात छोड़ दे । हर वाद में कुमुदचन्द्र हारता चला गया । अतः श्वेताम्बरों को विजयी घोषित कर दिया गया । इस तरह वाद का अन्त हुआ और पराजित कुमुदचंद्र के कारण शर्त के अनुसार, पूरे दिगम्बरों को गुजरात से निकल जाना पड़ा । दिगम्बरों के पैर उखड़ गए । श्वेताम्बरों ने आचार्य श्री की खूब जय जय कार की । तत्पश्चात् आचार्य श्री का धूमधाम पूर्वक नगरप्रवेश कराया गया । राजा ने विजय की खुशी में गुरुदेव को कितने ही करोड़ रुपया और कई गांव भेंट देना चाहे परन्तु आचार्य श्री जी ने अपरिग्रह का प्रमाण समझाकर, लेने से इन्कार कर दिया । तब राजा ने वहां पर भव्य जिनालय बनवा कर आचार्य श्री से अंजन शलाका- प्रतिष्ठा कराई ।



इस प्रकार वाद- विवाद करके शास्त्रार्थ में वादी को हरा कर अपना वादि देवसूरि नाम सार्थक करते हुए जैन धर्म की पताका फहराते रहे । अन्त में समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुए ।

◆◆◆◆◆◆◆◆

अपने आपको कमजोर, अक्षम और अप्रस्तुत मत समझो, औरों की छींटाकशी को कम से कम तुम खुद स्वीकृति मत दो! कोई तुम्हें क्या समझता है, मानता है... यह उसका व्यक्तिगत मामला है... तुम अपने आपको क्या समझते हो, यह तुम्हारी निजी पसंदगी है !
खड्डे में गिरे गिरे भी नजर चांद - तारों पर और आकाश पर जम सकती है ! हौसला बुलंद करो! औरों की कहासुनी में स्वयं को उलझाये बगैर हिंमत को दुगुनी करो... आस्था को चौगुनी करो!



अमर यश की धारिणी —
साध्वी श्री यशवन्त श्री जी म. का —

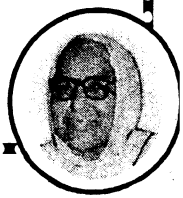
संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्मभूमि, वंश और कुल :-

भारतभूमि एक पुण्य भूमि है, जहां अनेक महा पुरुषों ने जन्म लिया । उसमें भी पंजाब की धरा सदा से ही वीर प्रसूता रही है, कर्म क्षेत्र में भी और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी । आपका जन्म गुजरांवाला (पाकिस्तान में) श्री हीरालाल जी बरड के घर हुआ । उन दिनों हीरालाल जी समाज में हीरे के समान चमकते थे । श्री मति अतरा दई को रत्नकुक्षी माता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । माता-पिता ने आपका नाम 'चांद रानी' रखा । आपके दो भाई तथा दो बहनें थीं । पांचों बहन भाईयों में आपका नम्बर चौथा था ।

संयम मार्ग का निमित्त :-

अभी आप ढाई-तीन वर्ष के ही थे, कि कराल-काल ने अपना रंग दिखाया । आपके सिर से माता-पिता का साया उठ गया । तीस वर्ष की युवावस्था में ही आपकी माता जी का सुहाग-सिन्दूर लुट गया, हंसता खेलता परिवार अनाथ हो गया । तथापि आपकी माता जी का जीवन धार्मिक संस्कारों से ओत-प्रोत था । जिसके कारण उनकी विचार धारा वैराग्य की ओर मुड़ गई । सांसारिक सुख उन्हें तुच्छ लगने लगे । संसार की असारता स्पष्ट दिखाई देने लगी । आत्म-कल्याण की भावना तथा वैराग्य में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने लगी । फिर एक दिन ऐसा भी आ गया कि जब वैराग्य



भाव के तीव्र प्रवाह में बहती-बहती, वे अपने घर से निकल कर, अपनी गुरुणी जी म० की शरण में जा पहुंचीं ।

आपके दोनों भाई (शांतीलाल व महाबलकुमार) समझदार थे । युवावस्था में प्रवेश करते ही, उन्होंने अपनी जिम्मेदारी को समझा तथा अपना पैतृक व्यवसाय सम्भाला । आप की माता जी की इच्छा, संयम व्रत अंगीकार करके, अपना आत्म-कल्याण करने की निश्चित हो चुकी थी । अतः एक दिन वे अपने सगे सम्बन्धियों तथा बच्चों से दीक्षा लेने की आज्ञा लेने के लिए घर आईं । प्रथम तो सबने इन्कार किया, परंतु उनका दृढ़ निश्चय देख कर, सब को उनके आगे झुकना पड़ा । चांद रानी ने जब देखा, कि मां फिर जानेवाली है, तो मां के गले से लिपट कर बुरी तरह रोने लगी । उसने माता के साथ ही जाने की हठ पकड़ ली । बालिका की ऐसी हरकतें देख कर सबने कहाः- "आप चांद को साथ ले जाओ-यह आपके बिना घर पर न रह सकेगी । हमें बहुत परेशान करेगी ।" अतः वे अपनी इस बेटी को साथ मे ले जाने के लिए सहमत हो गईं । परिवार की ओर से दोनों को दीक्षा लेने की अनुमति मिल गई ।

दीक्षा के लिए प्रस्थान व परीक्षाः-

उन दिनों आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरी० जी म० लुधियाना बिराजमान थे । मां-बेटी गुरुदेव के दर्शनों के लिए लुधियाना चल पडीं । गुरुदेव के चरणो में पहुंच कर वन्दन किया और अपने हृदय की भावना गुरुदेव के सम्मुख रख दी । उनकी ऐसी भावना देख कर, गुरुदेव बड़े प्रसन्न हुए ।

उनसे बोलेः- "आप पालीताणा जाओ । आपका सब मनोरथ सफल होगा ।"



गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर, आप पालीताणा चली गई । पालीताणा में उन दिनों प्रवर्तिनी साध्वी श्री देव श्री महाराज की शिष्या-प्रशिष्याएं श्री चित्त श्री जी म० तथा हित श्रीजी महाराज आदि बिराजमान थीं ।

गुरुदेव ने उन्हें तार द्वारा सन्देश भेज दिया कि मैंने आपके लिए जो वस्तु भेजी है, उसे सम्भाल लेना । तार को पढ़ कर सभी साध्वियां विचार करने लगीं :- "गुरुदेव ने हमें कौनसी वस्तु भेजी होगी, क्या होगी ? आदि ।"अनेक संकल्प होते रहे । दूसरे दिन जब मां-बेटी पहुंचीं और साथ ही गुरुदेव का पत्र भी दिखाया तो सभी को अतीव प्रसन्नता हुई । मां-बेटी ने वहीं स्थिरता की । क्रमशः दिन व्यतीत होने लगे । बालिका भी साध्वियों से घुल-मिल गई । अब विलम्ब करने का कोई कारण दिखाई न देने से, कुछ समय पश्चात आप का दीक्षा-मुहूर्त भी आ गया ।

कन्या को सभी फुसलाने की कोशिश करते । कोई कहता, "तुम्हे गाड़ी नहीं मिलेगी, नंगे पांव पैदल चलना पड़ेगा" । कोई कहता, "तुम्हे नई-नई फ्रॉकें नई-नई चूड़ीयां गहने आदि नहीं मिलेंगें" ।

कोई कहता, "सिर के बाल हाथ से उखाड़ने पड़ेंगें।"

इस तरह अनेक प्रकार के कष्ट बताकर उसके मन की परीक्षा करते, परंतु बालिका का एक ही उतर होताः-

"मेरी मां जो करेगी, वही मैं करुंगी ।"

सारे गांव में चर्चा होने लगी कि किसी छोटी बच्ची को फुसला कर दीक्षा दी जा रही है । धीरे धीरे यह बात पालीताणा के नवाब



साहिब के कानों तक जा पहुंची । वे आए और साध्वियों से बातचीत करते हुए पूछने लगे, "आप नादान बच्ची को क्यों मूंड रहे हैं ।" बड़े महाराज जी बोलेः- "उसकी ऐसी ही भावना है ।"

"बच्चे की क्या भावना होती है । उसे तो जैसा कहा जाएगा, वैसा कर लेगी ।"

"तो हमें भी कोई जबरदस्ती नही हैं । आप उसी से पूछ लीजिए । जैसा वह चाहेगी, वैसा ही किया जाएगा ।"

अब चांद रानी को बुलाया गया । उसे देख कर नवाब के मन में भी स्नेह उमड़ पड़ा । उन्होंने बालिका को अपने पास बुलाया और बड़े प्यार से पूछा :-

"तुम क्या करना चाहती हो ?"

"मैं छती(सती) बनूंगी ।"

"तूं सती क्यों बन रही है ?"

"मेरी मां भी बन रही हैं नं ।

"बेटी, तूं सती न बन । मैं तुम्हें अपने पास रखूंगा । अच्छी-अच्छी मिठाईयां दूंगा । बढ़िया-बढ़िया खिलौने दूंगा । नए-नए कपड़ें दूंगा । मां ने सती बनना है, तो बने । तूं मेरे पास रह जा ।"

"नहीं-नहीं मुझे तो अपनी मां के पास ही रहना है । वह सती बनेगी, तो मैं भी बनूंगी ।"

दीक्षा :-

नवाब ने चांद रानी को नाना प्रकार के प्रलोभन दिए परंन्तु वह टस से मस न हुई । अन्त में नवाब को भी स्वीकृति देनी



पड़ी । वह बालिका के दृढ़-संकल्प से इतना प्रभावित हुआ कि उनकी दीक्षा (वर्षीदान) का वरघोड़ा (जुलूस) भी नवाब की चार घोड़ों वाली बग्गी में निकला । खूब धूमधाम से मां-बेटी ने भागवती दीक्षा ग्रहण की । माता, साध्वी श्री हित श्री जी म० की शिष्या बनीं । उनका नाम "आनन्द श्री जी" रखा गया । बेटी ने अपनी मां का शिष्यत्व स्वीकारा और उसका नाम "जसवन्त श्री जी" रखा गया । इस समय साध्वी जसवन्त श्री जी की आयु नौ वर्ष की थी । वि.सं. २००१ मिति मार्गशीर्ष शुदि छठ के दिन, आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई ।

सा. आनन्द श्री जी ने रत्नत्रयी की आराधना में मन लगा दिया । अपनी पुत्री व शिष्या यशंवत श्री जी के विद्याध्ययन की पूरी-पूरी व्यवस्था रखी । जसवंत श्री जी को भी पढ़ने में बड़ी रुचि थी ।

पाटन में लगातार तीन चौमासों में आपने प्रारम्भिक भाषा ज्ञान से लेकर संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ हिन्दी-गुजराती आदि भाषाओं का भी प्रौढ़ ज्ञानाभ्यास किया ।

मातृ वियोग :- समय व्यतीत होता गया और क्रमशः वह दिन भी आ गया जब आपको अपनी वात्सल्यमयी जन्मदात्री माता व गुरुणी का सदा-सदा के लिए वियोग हो गया । उस समय आपकी आयु मात्र अठारह वर्ष थी । वैसे तो अपने स्वभाव की मधुरता के कारण आप समस्त साध्वी समुदाय के प्रिय थे परंतु प्रवर्तिनी सा० श्री पुष्प श्री जी म० की आप पर विशेष कृपा थी । उन्होंने आपको इतना स्नेह दिया कि आप अपनी माता के वियोग को धीरे धीरे भूलने लगीं । प्रत्येक व्यक्ति यही समझता था कि आप दोनों का मां-बेटी का सम्बन्ध है ।



आप गुजरात, राजस्थान व उतर प्रदेश आदि प्रान्तों में विचरण करती हुई तथा मार्ग में सब जैन तीर्थों की यात्रा करती हुई, साध्वी पुण्य श्री जी म० व पुष्प श्री जी म० आदि के साथ, पंजाब पधारीं । यहां आपने संस्कृत भाषा का अच्छा अध्ययन किया और लुध्याना, अम्बाला, जंडियाला आदि नगरों में शान्तमूर्ति विजय समुद्र सूरीश्वर जी म० के सान्निध्य में चार्तुमास करने का अवसर मिला । पूज्य आचार्य भगवन् के साथ, उस समय गणिवर्य श्री जनक विजय जी म. भी होते थे । उनसे आपने उतराध्ययन, आचारांग व ठाणांग आदि आगम ग्रन्थों का अभ्यास किया । पंजाब में आपकी दो शिष्याएं बनीं, जिनके नाम क्रमशः साध्वी प्रियदर्शना श्री जी व प्रगुणा श्री जी रखे गए ।

कुछ वर्ष पंजाब में धर्मप्रभावना करने के बाद आपने समेतशिखर जी आदि तीर्थों की यात्रा के उद्देश्य से उत्तर प्रदेश बंगाल विहार में विचरण किया । उधर की सभी यात्राएं भी कीं तथा बनारस और कलकत्ता में चातुर्मास भी किए । वापिसी पर आगरा चातुर्मास के बाद ग्वालियर में आपकी प्रशिष्या सा० हर्षप्रिया श्री की दीक्षा हुई ।

तत्पश्चात् इन्दौर-बम्बई, के चातुर्मासों मे खूब धर्मप्रभावना करके आप श्री जी वर्षीतप के पारणे के लिए पालीताणा पधारीं । खूब धूमधाम से पारणा हुआ । यहां आपने अपनी साध्वियों को सिद्धगिरि की नवाणुं यात्रा करने की प्रेरणा दी । नवाणुं यात्रा व चातुर्मास पूर्ण करके आप अपनी शिष्या-प्रशिष्या के साथ अहमदाबाद पहुंचीं । पूज्य आचार्य समुद्र सूरीश्वर जी महाराज तथा गणिवर्य श्री जनक विजय जी महाराज की सत्प्रेरणा व आज्ञा से शास्त्राध्ययन व संस्कृत- प्राकृत के ठोस ज्ञान के लिए तीन चातुर्मास अहमदाबाद में ही किए । आचार्य भगवंत जी की



कृपा दृष्टि से हमें वहां सभी प्रकार की व्यवस्था की सुविधा मिली ।

आकस्मिक आघात :-

तत्पश्चात आगरा और पंजाब वालों के अत्याग्रह से आपने पंजाब की ओर का अपना कार्यक्रम बनाया । अतः आपने ई. सन १९८१ का चातुर्मास आगरा शहर (बालूगंज) में किया । इस चौमासे में आपने बालूगंज में जिन-मन्दिर के निर्माण की पुरजोर प्रेरणा दी । फलस्वरुप चौमासे बाद मन्दिर जी का खनन मुहूर्त व शिलान्यास आप की ही निश्रा में सम्पन्न हुआ । तत्पश्चात पंजाब तरफ कदम बढ़ाने का पूर्ण निश्चय करके विहार प्रारम्भ किया । परंन्तु पंजाब पहुंचने से पूर्व ही आपको, आपके परिवार को व जैन समाज को एक वज्रपात सा दुख सहन करना पडा । अर्थात् आज से प्रायः चौदह वर्ष पूर्व आपकी प्रथम विदुषि शिष्या साध्वी प्रियदर्शना श्री जी महाराज बस दुर्घटना से कालधर्म को प्राप्त हो गई ।

उस असह्य वेदना को हृदय के कोने में दबा कर आपने अपनी छोटी सब साध्वियों को व्याख्यानादि के लिए तैयार किया । यह आपके जीवन की सबसे बडी विशेषता रही । आप ने अपने मार्गदर्शन में अपनी सब साध्वियों को पैरों पर खड़ा कर दिया । दिल्ली- मुरादाबाद- पंजाब- जम्मू आदि क्षेत्रों में सफल चातुर्मास करके पालीताणा यात्रा की भावना लेकर आपने पंजाब से भावभीनी विदाई ली । मार्ग में दादा की यात्रा के उत्कट मनो वेग से सादड़ी के छःरी पालित संघ में संखेश्वर से शामिल हुई । वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य देवेश विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वर जी म० की पावन सुखद निश्रा में सादड़ी से पालीताणा का यह पैदल



संघ था ।

कालधर्म :- पालनपुर चातुर्मास में ही गुरुदेव का सादड़ी से पत्र आ गया था कि चातुर्मास बाद संघ में शामिल होकर पालिताणा जाने का कार्यक्रम बनाना । गुरुदेव की आज्ञानुसार संघ में सम्मिलित होने का अपूर्व आनन्द मात्र चार दिन का ही हमारे भाग्य में लिखा था । ६.१.९३को हमने आचार्य भगवन् की आज्ञा से संघ के साथ संखेश्वर से प्रयाण किया । १०.१.९३की शाम को आप अस्वस्थ हो गईं । सभी के परामर्श अनुसार आप को सुरेन्द्र नगर हस्पताल में भर्ती कराया गया । जहां पर हमारे भाग्य की विडम्बना, क्रूर काल की कुटिलता स्वरुप १६.१.९३को हम सब को निराधार, असहाय बनाते हुए, अनाथ बच्चों की तरह हमें विलाप करते छोड कर स्वर्ग धाम पर्हुच गए । सब कुछ अपनी सगी आंखों से देखते हुए भी हम कुछ न कर सके । सुरेन्द्र नगर में आप मृत्यु को महोत्सव बना कर एक इतिहास कायम कर गए ।

विशेष ज्ञातव्य :-

नौ वर्ष की बाल्यावस्था में दीक्षा ले कर ५८ वर्ष की आयु तक शुद्ध संयम की आराधना, आत्मसाधना की तथा ज्ञान प्राप्त किया, वह गौरवास्पद है । सुबह चार बजे से प्रायः आठ बजे तक आप आध्यात्मिक साधना में तल्लीन रहती थीं । दोपहर में एक से साढे तीन बजे तक आप अपनी शिष्याओं सहित स्वाध्याय और मौन धारण करतीं । आप का मुख मण्डल सदा खिला रहता । स्वभाव की सरलता, सरसता व मधुरता सब को आकर्षित किया करती । प्राणी मात्र के प्रति करुणा तथा वात्सल्य भाव था परन्तु अपने चारित्रको निरतिचार पालन करने कराने में आप कठोर भी



थीं ।

आपके प्रवचनों में समन्वय, सरसता तथा हृदय को स्पर्श करने की क्षमता- ओज और सुमधुर मिठास थी । सहज रुप से आप के मुख से निकली बात प्रायः सत्य हो जाती ।

आपका सम्पूर्ण जीवन श्री आत्म- वल्लभ- समुद्र- इन्द्र गुरुदेवों के विचारों एवं कार्यों को समर्पित था । आपने कभी अपनी अलग पहचान बनाने की कोशिश नहीं की । गुरुदेवों के कार्यों को आगे बढ़ाना आप अपने जीवन का प्रमुख कर्तव्य समझती थीं । गुरुओं का आदेश ही आपके जीवन का लक्ष्य था ।

आचार्य समुद्र सूरि जी म० के समय में और वर्तमान में भी जहां-जहां भी गच्छाधिपति भगवन् ने आपको जाने और कार्य करने की आज्ञा दी आप "तहत्ती" कह कर आशीर्वाद लेकर चल पडतीं । चाहे वह आगरा जिन मन्दिर के शिलान्यास का कार्य हो या मेरठ के जिन मन्दिर का शिलान्यास, चाहे वह जगाधरी जिन मन्दिर की प्रतिष्ठा की पूर्व तैयारी हो या मुरादाबाद गुरु समुद्र समाधि मन्दिर का कार्य अथवा अम्बाला जैन कोलेज के स्वर्ण जयन्ति महोत्सव की पूर्व रुपरेखा की तैयारी । गुरु आज्ञा के आगे आपने कभी अपनी परिस्थिति का रोना नहीं रोया । आपके लिए -

'गुरोराज्ञा अविचारणीया' थी ।

आपके शासनप्रभावना के कार्यों को लक्ष्य में रखते हुए वर्तमान आचार्य श्री जी ने १४(चौदह) जनवरी १९९१ को बीकानेर में 'शासन प्रभाविका' पदवी दी ।

५८ वर्ष की अल्पायु में आप अपनी छोटी छोटी साध्वियों को



निराश्रय छोड़ कर सदा-सदा के लिए विदा ले गई । आपकी पांच शिष्याएं (स्व० सा० प्रियदर्शना श्री जी B.A. सा० प्रगुणा श्री जी सा. प्रियधर्मा श्री जी. सा. प्रियरत्ना श्रीजी सा० प्रिय सुधा श्री जी तथा एक प्रशिष्या सा० हर्षप्रिया श्री जी) हुई । जिनके जीवनको आपने सुसंस्कारों से सिंचित किया ।

तपस्या :-

१६ उपवास, नौ उपवास, कई अट्ठाईयां, वर्षीतप, रत्नपावडी तप, ९६ जिन तप, २४ भगवान के ३०० एकाशने, बीस स्थानक, नवकार मन्त्र के ६८ उपवास आदि अनेक तप तथा तिथियों की आराधना की ।

अन्त में :-

आपके जीवन- वृत बारे सम्पूर्ण लिखना असम्भव है, तथापि अल्पमति से इतना ही कह सकती हूं कि आपका श्रद्धाप्रधान सादा जीवन, धर्म, संस्कृति एवं आत्मसाधना के लिए समर्पित था । यद्यपि भौतिक देह से आप हमारे मध्य नहीं रहे परन्तु गुण रुपी देह हमारे से कभी भी दूर नहीं हो सकती । कवि के शब्दों में :-

हमारे से दूर होकर भी, हमारे पास हो तुम,
हमारी सूनी जिन्दगी की, एक आस हो तुम,
कौन कहता है, हम से बिछुड गए हो तुम,
तुम्हारी यादों के रुप में हमारी सांस हो तुम ।

शासनेश आपकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे । आप हमारे ऊपर अपनी अदृश्य कृपा किरणें बरसा कर ऐसा बल दें कि हम



सच्चे अर्थों में वीतराग प्रभु के अनुगामी बनते हुए आपके गुणों को जीवन में ला सकें । इसी कामना के साथ ....

आपकी ही चरणरज (प्रशिष्या)

सा० हर्षप्रिया श्री

यूनान के एक दार्शनिक से किसी जिज्ञासु ने पूछा :- "विश्व में सबसे विराट क्यां है ?" "आकाश" दार्शनिक ने उत्तर दिया । सबसे श्रेष्ठ वस्तु क्या है ? "नील" सबसे सरल वस्तु ? "उपदेश" और सबसे कठिन क्या है ? "आचरण । "

सम्वत निकालने की रीति :-

ईस्वी सन् में 56 **मिलाएं तो वि0 सं0 आएगा ।**

ईस्वी सन् में 526 **मिलाएं तो वीर सं0 आएगा ।**

विक्रम सम्वत् में 470 **मिलाएं तो वीर सं0 आएगा ।**

वीर सं0 में 470 **मिलाएं तो वि0सं0 आएगा ।**



विदुषि साध्वी श्री प्रियदर्शना श्री जी महाराज की "संक्षिप्त जीवन-ज्योत"

जन्मभूमि, वंश और कुल :- भारत भूमि एक पुण्यभूमि है । उसमें भी पंजाब की धरा सदा से ही वीर प्रसूता रही है, कर्म क्षेत्र में भी और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी । यहां अनेक महान आत्माओं ने जन्म लिया जिन्हानें अपने पवित्र चरित्र के द्वारा और तेजस्वी व्यक्तित्व तथा कृतित्व के द्वारा जन-जन को मार्गदर्शन दिया । उन्हीं की पवित्र लड़ी की कड़ी में साध्वी श्री प्रियदर्शना श्री जी म० का नाम निष्ठा से लिया जाता है । आपका जन्म गुजरांवाला (पंजाब) में लाला दीवानचन्द जी बीसा ओसवाल दूगड़ के सुपुत्र ला. मनोहर लाल जी के घर भादो शुदि एकम (६ नवम्बर १९३७) को हुआ । श्रीमति तिलक सुन्दरी की कुक्षि को आपने पावन किया था । माता पिता ने आपका नाम पद्मा रानी रखा । पिताजी का व्यवसाय पीतल आदि धातुओं के बर्तनों का था । देश के विभाजन के पश्चात् वे अम्बाला शहर (हरियाणा) में आकर आबाद हैं । लाला मनोहर लाल जी के तीन पुत्र और तीन पुत्रियां थीं । पद्मा अपनी बहनों में मंझली थीं ।

व्यवहारिक अभ्यास :- अम्बाला में आकर पद्मा ने पू. काशी राम स्कूल में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा पास की । आगे पढ़ने की रुचि होने पर भी पिता जी ने कालेज भेजना पसन्द न किया । तथापि पद्मा ने घर पर ही पढ़ाई चालू रखी । पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी की उच्चतम परीक्षा पास कर "प्रभाकर"



की उपाधि प्राप्त की । पश्चात् Teacher Traininng करके Jain Kanya Higher Secondary School Ambala में अध्यापिका बन गई । English में B.A. तक परीक्षाएं भी पास कीं ।

वैराग्य भावना :- बाल्यकाल से ही सादा जीवन-उच्च विचार थे । जीवन के उषाकाल (युवावस्था) में कदम रखते ही आपने ऐन्द्रिक आकर्षण तथा भोग-वासनाओं को तिलाञ्जलि दे दी । विवाह करने की बिल्कुल रूचि नहीं थी । अतः विरक्त होकर दीक्षा लेने की भावना बल पकड़ने लगी । वि. सं. २०१७ में साध्वी श्री पुण्य श्री म०व.सा० श्री जशवन्त श्री म० आदि का चैमासा अम्बाला में था । सा० श्री जशवंत श्री जी.म० की प्रेरणा से वैराग्य भावना में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । पद्मा ने अपने माता-पिता से दीक्षा लेने की भावना प्रकट की, पर वे बिल्कुल राजी न हुए । इधर पद्मा ने अखण्ड ब्रह्मचर्य की साध्वी जी से दृढ प्रतिज्ञा ले ली । तथापि माता, पिता और पुत्री में सहमति न हो पाई । पिताजी ने कहा -- तुमने विवाह नहीं करना तो भी तुम घर पर रह कर धर्माराधना कर सकती हो । हमारे घर में किसी भी प्रकार की कमी नहीं है । तुम्हें सब प्रकार की सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं । तुम्हें नौंकरी करने की भी आवश्यकता नहीं । घर में रहते जो चाहो धर्माराधना में खर्च करो, तीर्थ-यात्राएं करो, साधु-साध्वी के दर्शन के लिए जाओ । जितना भी धर्म का ऊंचे से ऊंचा अभ्यास करना चाहो, करो । उसके लिए उच्च कोटि के जैन दर्शन के अध्यापक की भी व्यवस्था कर देंगें । घर के किसी भी काम को करने लिए हम तुम्हें कभी नहीं कहेंगें । दीक्षा में क्या पड़ा है ? यदि चाहोगी तो घर में रह कर भी साधु अवस्था से भी बढ़कर सेवा का लाभ ले सकोगी, धर्माराधना कर सकोगी,



आदि-आदि ।

परन्तु पद्मा तो वैराग्य रंग में रंग चुकी थी । अब उसे एक-एक दिन भारी पड़ रहा था । माता पिता को स्पष्ट कह दिया कि मैंने शीघ्रातिशीघ्र अवश्य दीक्षा लेनी है । यही मेरा अन्तिम निर्णय है । मात्र आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा में हूं ।

पिता जी आज्ञा देने को तैयार न थे । समय बीतता गया । अन्त में इन्होंने खाना-पीना छोड़ने का निश्चय किया । केवल दो रोटी और दाल-शाक । शेष सब कुछ, त्याग कर दिया । अब मां कल्पती रहती । पति से कहे तो उत्तर मिले- "भूख नहीं होगी, नहीं खाया ।"

इधर इन्होनें कई दिन ऐसा करते २ विचार किया कि शायद मेरे बिल्कुल न खाने से पिता जी मान जाएं । बस पर्वाधिराज पर्युषण के प्रथम दिवस उपवास का पचक्खाण ले लिया । पिता जी भी ध्यान तो सब रखते थे । सुबह पारणे का समय आया । मां ने पारणा करने को कहा तो आपने उत्तर दिया - "मुझे आज्ञा दो फिर पारणा करूंगी ।" पिता जी चुपचाप दुकान पर चले गए । ऐसे ही २-३ और क्रमशः चार उपवास हो गए पर पिता जी ने कुछ न पूछा । वैसे घर में कोई बात निकलती तो कह देते ऐसा करेगी तो करने दो । कितने दिन भूखी रहेगी । दीक्षा कोई खेल नहीं । मैं नहीं ऐसे मानने वाला । अब पद्मा जी से तपस्या बहुत मुश्किल से होती थी । क्रमशः अट्ठाई (आठ उपवास) हो गई पर पिता जी की आज्ञा की कोई आशा दृष्टिगोचर न हुई । अन्ततोगत्वा पारणा करना पड़ा ।

बराबर तीन वर्ष तक पिताजी ने खूब कसौटी पर कसा । पद्मा जी को धार्मिक अभ्यास कराने के लिए जैनदर्शन के सुयोग्य



विद्वान, श्रावक, पंड़ित श्री हीरालाल जी दूगड़ को नियुक्त किया । उन्होनें पंच प्रतिक्रमण, चार प्रंकरण, त्रण भाष्य, धर्मबिंदु, तत्वार्थाधिगम सूत्र, वैराग्यशतकादि का सार्थ सविवेचन अभ्यास कराया । पं. श्री दूगड जी के पढ़ाने की शैली से ज्ञान और वैराग्य का खूब विकास हुआ । धार्मिक संस्कारों ने दृढ़ श्रद्धा का स्थान पा लिया । आखिरकार पद्मा बहन की वैराग्य भावना रंग लाई अर्थात माता-पिता को दीक्षा लेने की आज्ञा देनी ही पड़ी ।

दीक्षा और भ्रमण :- अनेक कसौटियों से पास होकर अंत में मृगशिर शुदि छ्ठ (ता-२४-११-१९६०). ई.) के शुभ दिन अम्बाला शहर में पूज्य आ. श्री विजय समुद्र सूरी० जी महाराज के कर कमलों से पद्मा बहन ने बड़ी धूमधाम से भागवती दीक्षा ग्रहण की । सा. श्री जशवन्त श्री जी म० की शिष्या बनी और नाम श्री प्रियदर्शना श्री जी रखा गया । गांव गांव में धूम मच गई कि B.A. पास लड़की ने सन्यास लिया है । लोग दर्शनों को उमड़ पड़े । चार पांच वर्ष पंजाब (अम्बाला-लुधियाना, जालंधर-जम्मु-अमृतसर आदि नगरों) में धर्म-प्रभावना करते हुए और सतत जैन-जैनेतर दर्शन के अभ्यास में अभिवृद्धि करते हुए अपनी गुरूणी जी आदि के साथ U.P., बिहार, बंगाल के प्रदेशों को धर्मामृत से सिंचन करते हुए, सम्मेत शिखर, पावापुरी, चम्पापुरी, राजगृही, क्षत्रिय कुण्ड आदि तथा इस क्षेत्र में आने वाले तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों तथा अन्य तीर्थो की यात्रा करते हुए आपने आगरा चातुर्मास किया । चौमासे बाद आपकी एक शिष्या बनी, जिसकी दीक्षा ग्वालियर में हुई । तत्पश्चात् आप इन्दौर पधारीं ।

सन् १९७१ का चौमासा इन्दौर किया । उस वर्ष वहां सर्व धर्म समन्वयी गणि (वर्तमान में आचार्य) श्री जनक विजय जी महाराज,



दिगम्बर मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज, स्थानकवासी मुनि श्री लाभचंद जी महाराज तथा साध्वी श्री प्रीतिसुधा जी महाराज आदि अनेक साधु साध्वियों के चातुर्मास थे । सबके प्रवचन एक ही व्याख्यान-मंडप में होते थे । सबकी परस्पर धर्म गोष्ठी और मैत्री पूर्ण विषयों पर चर्चाएं होती रहती थीं । उसमें आप श्री जी के प्रवचनों को हजारों की संख्या में उपस्थित श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर, एकाग्रता पूर्वक सुनते थे । इस प्रकार इस चातुमार्स में इन्दौर की जैन जनता में एकता का सुन्दर वातावरण तैयार हो गया था । इतना मात्र ही नहीं, अपितु अजैन जनता भी अधिकाधिक संख्या में आप लोंगों के प्रवचनों से लाभान्वित होने के लिए व्याख्यान प्रारम्भ होने से पूर्व ही मंडप में पहुंच जाती थी । एकता और संगठन के इस कार्य में आपको वहां के प्रमुख श्रेष्ठी, रतन चन्द जी कोठारी का पूर्ण सहयोग सदैव मिलता रहा । उस समय इन्दौर ने मानो इन्द्रपुरी का रूप धारण किया हुआ था ।

इन्दौर से विहार करके बम्बई (वरली) चौमासा किया । वहां पर भी श्री आत्मान्द जैन सभा के धर्म बन्धुओं ने बम्बई के खुले बाजारों में स्थान स्थान पर आपके प्रवचन करवाए । फलस्वरूप बम्बई में गुरू वल्लभ का अमर-सन्देश एक बार फिर गूंज उठा । वहां से विहार कर आप लोग वड़ौदा (गुजरात) पधारे और जिनशासन रत्न, शाँतमूर्ति आचार्य श्री विजय समुद्र सूरी० जी महारज की निश्रा में चौमासा कियाँ । यहीं पर पू० आचार्य श्री जी की निश्रा में साध्वी सम्मेलन हुआ जिसमें साध्वियों को अभ्यास में अधिकाधिक प्रगतिमान बनने के लिए प्रेरित किया गया । वहां से पुनः बम्बई और पालीताणा चातुर्मास तथा सिद्धगिरि की ९९ वें यात्राएं करके, आचार्य गुरुदेव की भावना पूरी करने के लिए, उनकी आज्ञा व गणि श्री जनक विजय जी महाराज की प्रेरणा से



अपनी गुरुणी जी आदि के साथ आगमों का ठोस अध्ययन करने के लिए तीन चार्तुमास अहमदाबाद में किए ।

आकस्मिक कालधर्म :- तत्पश्चात् आगरा और पंजाब वालों के अत्याग्रह से आपने पंजाब की ओर आने का कार्यक्रम बनाया । अतःआपने सन् १९८१ का चार्तुमास आगरा शहर में किया । दुर्भाग्यवश इस अन्तिम व अभूतपूर्व चौमासे के बाद जब विहार के डग भरने शुरू किए कि आगरा से केवल ३२ किलोमीटर ही दूर सादाबाद के पास, आपका Accident के कारण, ३-३-८२ फागुण शुदि अष्टमी को आकस्मिक कालधर्म हो गया । जिसने भी सुना मूर्तिवत् हो गया । सूर्य के प्रकाश के साथ यह समाचार चारों ओर फैल गया । हृदय की धड़कन एक की बन्द हुई । हजारों हृदय हिचकियां-सिसकियां लेने लगे । आंख एक की बन्द हुई सैंकडों आंखें अश्रुभीनी होकर तड़पने लगीं । जुबान एक की बन्द हुई और सहस्रों जिह्वा हाहाकार कर उठीं । परन्तु .....

इस हाहाकार में गुंजित थी अमर वाणी..... इस दिव्य विभूति की । आंसु ..... सिसकियां ..... बिलखना ..... फूट-फूट कर रोना बता रहा था, दर्द-दुख-वेदना, उनके हृदय का, जिन्हें मिला था आपका स्नेह - प्यार- वात्सल्य ।

अब तो रह गई मात्र आप की स्मृतियां, उज्जवल कृतियां, जो हजारों -हजारों मुंह से आप का यशोगान गा रही हैं । ठीक ही कहा है :-

"जाने वाले नहीं आते, जाने वालों की याद आती है ।"

विशेष ज्ञातव्य :- आपके व्यक्तित्व में ऐसी दिव्य निर्मलता



थी, सौम्यता थी, सहृदयता थी जो सम्मुखीन व्यक्ति के मन में तत्क्षण एक ऐसा स्थान बना लेती कि वह कभी उन्हें भूल नहीं पाता ।

आप धर्म और ज्ञान में गहरी समानता खोजने वाली, सिद्धान्तों में अटल और आचरण में निर्मल-अन्तज्योति को सदा प्रज्वलित करने वाली थीं । वस्तुतः आप सफल प्रवचनकर्त्री तथा सिद्धहस्त लेखिका थीं । पाश्चात्य विद्वान बेकन के शब्दों में :-

Reading makes a full man,
Speaking a perfact man,
and writing an exact man.

बालू गंज (आगरा) में बाल-युवा वर्ग के जीवन में देव गुरू-धर्म के संस्कार डालने के लिए जिन मन्दिर बनवाने की पुरजोर प्रेरणा दी । आज वह अति दिव्य और भव्य जिनालय, आप ही के रात-दिन, कठोर प्रयासों का प्रतीक रूप है । आपकी प्रेरणा से सुस्थापित तरूणी मण्डल जीवन-जागृति का नमूना है । बच्चे-बूढ़े सभी के लिए आप श्रद्धास्पद हैं ।

अभ्यास :- संस्कृत, प्राकृत, न्याय व्याकरण, साहित्य, षट्दर्शन समुच्चय, काव्यादि ग्रन्थ, जैन धर्म और दर्शन, प्रकरण, कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, कम्मपयड़ी आदि कर्म सिद्धान्त तथा अनेक जैनामयों का साक्षर विद्वानों द्वारा अध्ययन के साथ जैनेतर ग्रन्थ तथा आधुनिक विकसित ज्ञान धाराओं का भी प्रौढ़ ज्ञान था ।

व्याख्यान शैली :- सरल, रोचक, हृदयस्पर्शी; ओजस्वी युक्तिपुरस्सर तथा, ज्ञान एवं चारित्र की शुद्धि वृद्धि में अत्यन्त प्रेरणादायी थी ।

तपस्या :- आपने अपने जीवन में अनेकविध तप



किए । यथा :- तीन अठाइयां, बीस स्थानक, नवपद जी की ओली, ९६ जिन तप, पंचमी, दशमी एकादशी आदि-आदि ।

अन्त में :- आप श्री जी के जीवन-वृत बारे सविस्तर लिखना मुझ अल्पज्ञा के लिए असम्भव है । तथापि मेरा यह अल्प प्रयास एक श्रद्धा व भक्ति सुमन बन कर सभी को सुवास दे,

इसी शुभ आशय के साथ --

दिवंगत ज्योति सा० श्री प्रियदर्शना श्री जी म०
की शिष्या - सा० हर्षप्रिया श्री

⌘⌘⌘⌘⌘⌘⌘⌘⌘⌘

विवेक :- ज्ञानी जीव इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचने पाए । अज्ञानी जीव निरर्थक ही असंयम करके पाप के भागी बन जाते हैं । कोई बर्तन पानी-दुध-घी या तेल से भरा हो, और उसे खुला रख दें तो उसमें मक्खी आदि गिर कर मर जाती हैं ।

कई लोग रात्रि में पीने के पानीका लोटा खाट के नीचे भर रखते हैं । उसमें कीड़ी-मच्छर आदि छोटे जन्तू चढ़ गए हों तो पानी पीने से पेट में कई तरह के रोग हो जाते हैं । कई लोग बिना देखे जूते, पैरों में पहन लेते हैं । उसमें कोई बिच्छू आदि हो तो डंक लगा सकता है । अन्य कोई छोटे जीव हों तो बिना प्रयोजन मसले जाते हैं, अनर्थ हो जाता है ।



श्री मणि भद्र वीर की -उत्पत्ति :-

पू० आ० बुद्धिसागर सूरि जी लिखते हैं कि तपागच्छ में चौदहवीं या सोलहवीं शती में श्री आनन्द विमल सूरि म० हुए हैं । उन्होंने यतियों में शिथिलाचार देखकर तत्कालीन साधुओं (यतियों) की ५००० संख्या के साथ क्रियोद्धार किया ।

एक बार विहार करते हुए मालवा पहुंचे । वहां उज्जयिनी नगरी में क्षिप्रा नगरी के तीर पर गंधर्व मसान में काउसग्ग ध्यान में ठहरे । उज्जैन में सेठ माणेकचंद बारह व्रतधारी श्रावक रहता था । उसकी माता ने वर्धमान आंबिल तप प्रारम्भ किया । उन्हीं दिनों आचार्य म० ने गंधर्व मसान में मासखमण तप किया । यतियों की शिथिलता देखकर माणेकचंद की श्रद्धा साधुओं-यतियों से उठ गई थी । मां ने पुत्र को कहा :- " आचार्य श्री का कल पारणा है । अतः उन्हें व्होरने की विनती करके साथ ले कर आना ।"

माणेकचंद को श्रध्धा तो न थी किन्तु मातृभक्त होने से जाने की स्वीकृति दे दी ।

कुछ सोच कर वह रात ही में उस मसान में पहुंच गया । वहां तो एकदम अंधेरा था । निर्धारित विचारानुसार उसने मशाल जगाई और आचार्य श्री की दाढ़ी के पास रख दी । दाढ़ी जल गई । थोड़ा मुंह भी जलना स्वाभाविक था । वह आचार्य म० के मुख की प्रतिक्रिया देख रहा था । किन्तु आचार्य भगवन् जरा भी क्रोधित नहीं हुए, शांत रहे, मौन रहे ।

आचार्य श्री को परीक्षा में सफल हुए मान कर, उनकी क्षमाशीलता से प्रभावित होकर माणेक चन्द साधुत्व के प्रति



श्रद्धावान बन गया । तुरन्त उनके चरणों में गिर पड़ा । आचार्य श्री जी ने उसे प्यार से उठाया और प्रतिबोधित किया ।

अब माणेकचंद सेठ आचार्य श्री जी का अनन्य भक्त बन गया । जहां भी वे होते यदा-कदा दर्शनार्थ जाने लग गया ।

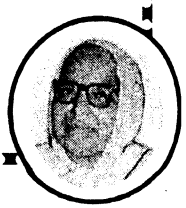
सेठ की एक दुकान पाली (राज.) में भी थी । एक बार आचार्य आनन्द विमल सूरि जी ने पाली में चातुर्मास किया । चौमासे में शत्रुंजय माहात्म्य वांचा । शत्रुंजय की महिमा सुन सुन कर सेठ को पालीताणा के दर्शन करने की भावना जगी ।

एक दिन व्याख्यान सुनते-सुनते ऐसा उत्कट भाव आया कि तुरन्त वहीं खडे होकर स्वयमेव प्रतिज्ञा कर ली कि सिद्धाचल के दर्शन किए बिना भोजन नहीं करुंगा । गुरुदेव ने बहुत समझाया पर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल, माणेकचंद सेठ ने शत्रुंजय भेटने की मस्ती में तप शुरु कर दिया । साथ ही छोटे से काफिले के रुप में, उसी दिन तैयारी करके यात्रा पर निकल पड़ा । तब पैदल का ही रास्ता था । एक-एक करके छः दिन पूरे हो गए । छः उपवास हो गए ।

सातवें दिन का उपवास ----------

प्रवास चालू था । पालनपुर और सिद्धपुर के मध्य मगरवाड़ा पहुंचे । तब वहां गांव न था । वन सा था । अचानक भीलों ने हमला कर दिया । धन-माल तो लूटा ही, जीवितदान भी न दिया । सेठ मरते समय भी सिद्धाचल के तथा पंच परमेष्ठी के ध्यान में था । अतः मर कर अनेक देवों के ऊपर मणिभद्रवीर नामक देव बना ।

उस समय खंभात में खरतर गच्छ-तपागच्छ के यतियों में मतभेद



होने के कारण झगड़ा हो गया । खतरगच्छ के यतियों ने भैरो जी की आराधना की । तपागच्छ के ५०० यति मर गए । इससे आ० आनन्द विमल सूरी जी म० बहुत चिन्तित रहने लगे । पालनपुर जाते हुए एकदा उनका पड़ाव मगरवाड़ा की झाड़ियों में था । रात को ध्यान में खड़े थे, तो माणेकचंद सेठ ने दर्शन दिए । सूरि जी ने पहचान लिया । पूछा-तुम यहां कैसे ? तब माणेकचंद ने अपनी मृत्यु का वृतान्त बता कर मणिभद्र देवता के रुप में उत्पति की बात की । अन्त में कहा कि मुझे कुछ सेवा का मौका दो । तब आचार्य म० ने कहा :-

खरतर गच्छ के यतियों ने भैरव जी की आराधना करके उसे वश में कर लिया है और हमारे गच्छ के साधुओं के विनाश के लिए उसे नियुक्त किया है । अतः उसका निवारण करो । मणिभद्र वीर ने कहा :-

" मैं आपकी सेवा में रहूंगा और भैरों जी का उपद्रव भी दूर कर दूंगा, पर मेरी भी एक याचना है (डिमाण्ड है) कि तपागच्छ के मन्दिरों व उपासरों में मेरी मूर्ति की स्थापना की जाए । "

" तुम्हें तपागच्छ के अधिष्ठायक देव तरीके स्थापन कर दिया जाएगा । "

जिस स्थान पर यह वार्तालाप हुआ । उसी स्थान पर मणिभद्र वीर जी की स्थापना कर दी गई । तब से वह स्थान मणिभद्र जी का सिद्धपीठ बन गया । वही स्थान आज मगरवाड़ा के नाम से प्रख्यात है ।

माणिभद्र जी ने भैरों जी का उपद्रव दूर किया । भैरों जी भी शान्त हो गए । तब से मणिभद्र जी की इच्छा अनुसार जो भी आचार्य



तपगच्छ के पाट पर नए आते, वे सब प्रथम मगरवाडा जरुर जाते । वहां मणिभद्र जी प्रत्यक्ष करने के लिए अट्ठम करते । वे प्रत्यक्ष हो जाते ।

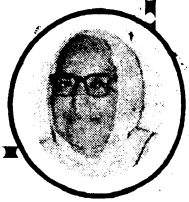
इसी भान्ति तपगच्छ सोमशाखा के ६२ वें पाट पर आ० शांति सोम ने मगरवाड़े में रह कर मणिभद्र की आराधना की और वीर जी के पैर या घुटने का कुछ अंश आगलोड में ले गए । वहां वीर जी के कहे अनुसार देरी बनवाई और मूर्ति स्थापना की ।

तत्पश्चात गांव-गांव, नगर-नगर में वीर जी की स्थापना देखने को मिलती है । ये, जैन शासन के, अधिष्ठाता देव सम्यग्दृष्टि देव हैं ।

मणिभद्र वीर जी की आराधना के लिए व पूजा के लिए सामान्यतः अष्टमी तथा चौदश तिथि एवं गुरुवार उत्तम है । इनकी बाधा (प्रतिज्ञा) माघ (महा) शुदि पंचमी, वैशाख की एकम और आसो शुद १० के दिन या किसी भी अष्टमी या चौदश और रविवार या सोमवार को रखी जाती है ।

****

प्रेमियों के नौ चिन्ह :- ठण्डी आहें, पीला रंग, जलपूर्ण नेत्र, प्रतीक्षा,बेचैनी, असन्तोष, मितभाषी, मिताहारी, अनिद्रा ।



☆ ऋषि अष्टावक्र ☆

हजारों वर्ष पूर्व की बात.....

एक थे ऋषि कहोड़.....

खूब अकिंचन..... धन की लालसा से कोसों दूर ।

पत्नी का नाम था सुजाता ।

वन में झोंपडी बनाकर दोनों रहते ।

ज्ञान गोष्ठी और धर्म साधना में रत रहते ।

कुछ वर्ष बाद.....

सुजाता गर्भवत्ती हुई । गर्भस्थ शिशु पर अच्छे संस्कार पड़े, इस उद्देश्य से कहोड़ नित्य रात्रि को अपनी पत्नी को ज्ञान और धर्म की बातें सुनाते । पत्नी भी बड़ी रूचि और ध्यान से अपने पति की धर्मवार्ता सुनती । फलस्वरूप गर्भ में स्थित शिशु, गर्भ में ही बहुत सा ज्ञान सीख गया ।

एक रात.....

ऋषि कहोड़ जब सुजाता को संस्कृत के कुछ श्लोक सुना रहे थे तब गर्भस्थ शिशु की आवाज़ सुनाई दी :-

" पिताजी ! आप की कृपा से मैं ने बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर लिया है, परन्तु आप इस श्लोक का जो अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं, उससे मुझे महान कष्ट हो रहा है । "

गर्भ का, अजन्मा बच्चा अपने विद्वान पिता की ऐसी निर्भीक आलोचना करे, ऋषि कहोड़ का अहं, यह सहन न कर सका । क्रोध के आवेश में वे तमतमा कर बोले :-



" तुझे अभी से इतना घमण्ड हो गया कि तूं मेरी आलोचना करने लगा । मैं तुझे श्राप देता हूं कि तूं टेड़ा शरीर लेकर जन्मेगा । "

और सचमुच.....

जन्म के समय वह शिशु विकृत अंगों वाला टेड़ा था । एक - दो नहीं, उसका शरीर आठ स्थानों पर टेड़ा था । माता गहरे विषाद में डूब गई । हृदय हाहाकार कर उठा । पर, वह कर भी क्या सकती थी ? अपने भाग्य को कोसती दुखिया मां, अपंग बेटे का पालन पोषण करने लगी ।

ऋषि कहोड़ भी अपंग पुत्र को देख-देख कर दुखी होते रहते । अपने क्रोध पर उन्हें पश्चाताप होता रहता । सचमुच क्रोधांध व्यक्ति विवेक खो बैठता है । ऋषि सोचते :- "अब क्या करूं ? कैसे इसका भविष्य सुधारूं जिससे समाज में सम्मान से यह जी सके ।" अन्त में निश्चय किया कि " मेरा पुत्र अपंग भले है, पर मैं इसे ऐसा विद्वान बना दूंगा जिसकी कोई बराबरी न कर सके । ज्ञान का आलोक ही मेरे अभागे पुत्र को सम्मान दिला सकेगा । वह अपना जीवन सुख शान्ति से बिताते हुए, समाज को भी सन्मार्ग पर ला सकेगा । "

बालक का नाम रखा गया अष्टावक्र । अष्टावक्र बहुत कुशाग्र बुद्धि का था । पिता, उसे शिक्षा देने में जुट गए । वह भी बड़े मनोयोग से पिता की शिक्षा ग्रहण करता ।

ऋषि कहोड़ को अब आर्थिक चिन्ता भी सताने लगी थी । धन का संग्रह तो उन्हों ने कभी किया नहीं था । पुत्र - जन्म के बाद अब आवश्यकताएं बढ़ने लगीं थीं । भोजन - सामग्री तक का अभाव खलने लगा था । वे सोचते :- "अपंग बालक भला जीवन



यापन के लिए क्या अर्जित कर सकेगा ? मुझे ही कुछ करना पड़ेगा" ।

उन्हीं दिनों ऋषि कहोड़ ने सुना कि मिथिला नरेश जनक के यहां शास्त्रार्थ का आयोजन है । श्री वंदन नामक आचार्य उनके दरबार में पधारे हैं, जिन्होंने अनेक विद्वानों को परास्त कर दिया है । शास्त्रार्थ में उन्हें जो हरा देगा, उसे राजा प्रचुर धन - राशि प्रदान करेंगें ।

राजा जनक, ऋषि याज्ञवल्क्य के शिष्य थे । राजा ने उन से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया था । ज्ञान - चर्चा में राजा को बड़ी रूचि थी । समय - समय पर उनके दरबार में दूर - दूर से विद्वानों का आगमन होता रहता था । राजा उनका बहुत सम्मान करते और दरबार में शास्त्रार्थ का आयोजन करते । ऋषि कहोड़ ने प्रचुर धन की आशा से श्री वंदन को शास्त्रार्थ में हराने का निश्चय किया और मिथिला पहुंच गए ।

ऋषि कहोड़ जब राजा जनक के दरबार में पहुंचे तो उनका अच्छा स्वागत किया गया । उन्होंने शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा । आचार्य श्री वंन्दन तैयार तो हो गए पर उन्होंने एक शर्त रख दी :- " यदि कहोड़ जीत जाएं तो उन्हें प्रचुर धन दिया जाए पर यदि हार गए तो मेरे यहां दास का कार्य करेंगें । "

शर्त सुनकर पहले तो ऋषि कहोड़ हिचके, फिर उन्हें अपनी गरीबी और अपंग अष्टावक्र के भविष्य का ख्याल आ गया । अतःशर्त स्वीकार कर ली । शास्त्रार्थ शुरू हुआ तो कई दिन तक चलता रहा । कभी ऋषि कहोड़ का पलड़ा भारी होता, कभी श्री वन्दन आचार्य का । दोनों महा विद्वान थे । अन्त में दुर्भाग्य से ऋषि कहोड़ हार गए । शर्त के अनुसार वह श्री वन्दन के घर



जाकर दास कार्य करने लगे ।

उधर अष्टावक्र आश्रम में अध्ययन करने जाने लग गए थे । किशोर अवस्था प्राप्त होने पर सहपाठी उनका मजाक उड़ाते । उसे बिना बाप का कहते । पिता बारे तरह - तरह के प्रश्न पूछते पर, अष्टावक्र को चुप रहना पड़ता । वह अपने पिता का नाम व पता तक जानता न था । आखिर एक दिन उसने अपनी मां से पूछ ही लिया :-

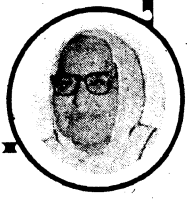
" मां ! मेरे पिता का नाम क्या है ? वह कहां रहते हैं ? घर पर क्यों नहीं आते ? आदि - आदि । "

अष्टावक्र के प्रश्नों को सुन कर दुखिया मां ने एक गहरी सांस ली । फिर आंखों में आंसू भर कर अपने पुत्र से बोली :-

" बेटा ! तेरे विद्वान पिता का नाम है ऋषि कहोड़ । वे सात्विक विचारों के महात्मा हैं । बारह वर्ष पूर्व जब तूं छोटा सा ही था, वे राजा जनक के दरबार में शास्त्रार्थ में श्री वन्दन आचार्य को परास्त करके अतुल धन पाने की आशा से गए थे । पर वहां वे हार गए और शर्त अनुसार अब वे उसी आचार्य की चाकरी कर रहे है । जब तक श्री वन्दन आचार्य को शास्त्रार्थ में हराया न जाए, तेरे पिता की मुक्ति न होगी । तूं ऐसा विद्वान बन बेटा, कि वंदन आचार्य को पराजित कर सके । "

अष्टावक्र ने सब बात ध्यान पूर्वक सुनी । फिर बोला :- " मां तेरा आशीर्वाद रहा तो बस कुछ ही वर्षों में पिता जी को छुड़ा लाऊंगा । "

अब अष्टावक्र अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूरी तरह जुट गया । उसने सभी वेद-शास्त्रोंका गहन-अध्ययन-मनन किया । कुछ वर्ष बाद जब वह पूरा पण्डित बन गया तो एक दिन जनक के दरबार



जा पहुंचा ।

दरबार खचाखच भरा हुआ था । पचासों विद्वान भी बैठे थे । युवक अष्टावक्र के आठ स्थानों से टेढे शरीर और इस कारण उन की अटपटी चाल को देखकर सारे दरबार को सहसा हंसी आ गई । अष्टावक्र को यह हंसी असह्य हो गई । वे वापिस जाने को मुड़े तो राजर्षि जनक ने उन्हें सादर रूकवाया । तब गम्भीर होकर वे बोले :-

"समझ कर मैं आया था, सभा है समझदारों की ।
मेरी गलती यहां निकली यह महफिल है चमारों की" ।

अष्टावक्र की यह टिप्पणी सुनी तो राजर्षि जनक बड़े लज्जित हुए । वे सिंहासन से उतर कर अष्टावक्र के पास आए और क्षमा याचना कर उन्हें ससम्मान अपने पास के सिंहासन पर लाकर बैठाया । फिर बोले :- " महात्मन् ! आपके आगमन से आज मैं धन्य हुआ । कृपया अपने उद्देश्य से मुझे अवगत कराने का कष्ट कीजिए । "

अष्टावक्र बोले :-

"राजर्षि ! लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व मेरे पिता ऋषि कहोड़ आचार्य श्री वन्दन से शास्त्रार्थ में पराजित हुए थे । यदि मैं शास्त्रार्थ में उन आचार्य को पराजित कर सकूं तो मेरे पिता को मुक्त कर दिया जाए । और पराजित आचार्य मेरे यहां चाकरी करें । यदि मैं हार गया तो उनके यहां दास बनने को तैयार हूं ।"

अष्टावक्र की बात सुन कर राजा जनक ने श्री वन्दन और अष्टावक्र का शास्त्रार्थ नियुक्त किया । दूर - दूर तक के सैंकडों पण्डित उस शास्त्रार्थ को सुनने हेतु जनक दरबार में उपस्थित



हुए । शास्त्रार्थ कई दिन चलता रहा । वृद्ध श्री वन्दन, युवा अष्टावक्र के ज्ञान व तर्कों के सामने ठहर न — पाए । अन्ततः उन्होंने हार मान ली और कहोड़ को मुक्त घोषित कर दिया । ऋषि कहोड़ ससम्मान राजदरबार में लाए गए । वे अपने प्रतापी और ज्ञानी पुत्र अष्टावक्र को छाती से लगा कर आनन्द के आंसू बहाने लगे । उन्होंने अपनी उदार वृत्ति से श्री वन्दन को क्षमा कर दिया । पराजय के बदले में उन्हें अपना दास नहीं बनाया । वे अहंकार और क्रोध का फल जान चुके थे ।

राजर्षि जनक, अष्टावक्र के अपार ज्ञान से बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने अष्टावक्र को बताया, " आप ताभंगा नदी में जाकर स्नान कीजिए । आप के शरीर की विकृतियां दूर हो जाएंगी । "

अष्टावक्र ने वहां जाकर स्नान किया तो सचमुच वे सुन्दर और सुघड़ शरीर वाले बन गए । बड़े सम्मान के साथ उनको राजा जनक ने अपने पास बुलवाया । नियमित ज्ञान-गोष्ठी से राजा जनक की समस्त शंकाओं का समाधान किया और उन्हें आत्मज्ञान सम्बन्धी अपूर्व प्रकाश दिया । जो " अष्टावक्र - गीता " के नाम से जगत प्रसिद्ध है ।

ऋषि अष्टावक्र का दिया ज्ञान और जीवन दर्शन, आज भी सभी के लिए गहन स्वाध्याय और मनन की वस्तु है । अपूर्व ज्ञान-मनन ने अष्टावक्र को सदा के लिए अमर कर दिया ।

****



✦ रवेमा देदरानी ✦

जिस समय गुजरात का सुल्तान महमूद बेगडा था, घटना उस समय की है । चाम्पानेर के नगर सेठ चांपसी महेता थे और सादुलखां चाम्पानेर का उमराव था । एक दिन वार्तालाप करते-करते वे दोनों राजदरबार तरफ जा रहे थे । मार्ग में एक चारण मिला । उसने नगरसेठ की जी भर कर प्रशंसा की और अन्त में बोला :-

"पहले शाह हैं और फिर बादशाह है ।"

चारण के प्रस्तुत शब्द सादुल खां को तीर की भांति चुभे । उस समय तो वह चुप रहा किन्तु बादशाह के पास जाकर खूब नमक मिर्च लगाकर बात की । बादशाह भी भड़क उठा । उसी समय उस चारण को बुलाया गया और पूछा गया - "तूं बनिया की इतनी प्रशंसा क्यों करता है ?"

चारण बोला :-

"बादशाह प्रवर ! इनके पूर्वजों ने कमाल के जो कार्य किए हैं, उन्हें कौन भूल सकता है ?"

बादशाह बोला :- 'बादशाह' शब्द में 'शाह' शब्द बाद में आता है और बनियों के पहले शाह शब्द लगता है । क्या वह उचित है ? यह क्या बादशाह का अपमान नहीं ?"

चारण :- "बादशाह से भी अधिक शाह लोगों में शक्ति है । और वे उस शक्ति से संसार का भला कर सकते हैं । क्या आपने नहीं सुना कि सम्वत १३१५ में भयंकर दुष्काल पड़ा था । उस समय जगडूशाह ने स्थान-स्थान पर दान शालाएं खोल कर प्रजा को मरने से बचाया था ।"



यह सुनकर बादशाह चुप हो गया । भवितव्यता से आगामी वर्ष ही दुष्काल पड गया । बादशाह ने मन में सोचा :-

"चारण ने शाह की प्रशंसा की थी । अब उन की परीक्षा करने का बादशाह ने यही उचित अवसर समझा । उसी समय चारण को बुला कर कहा :-

"तूने शाह की प्रशंसा की थी, अब अपनी बात सिद्ध कर, अन्यथा तुझे दण्ड दिया जाएगा ।"

चारण तुरन्त नगरसेठ के पास गया और बोला :-

"सेठ जी ! आप लोगों की परीक्षा का समय आ गया है । तैयार हो जाइए । अन्यथा बादशाह मुझे मौत के घाट उतार देगा । साथ ही आपकी शाह की पदवी भी छीन लेगा ।

सेठ ने सारी वस्तु स्थिति जानकर कहा :-

"चारण जी ! आप घबराइए मत । बादशाह से एक माह की मुद्दत मांग लो । हम इस अवधि में सारी व्यवस्था कर देंगे ।"

चांपसी महेता जो तत्कालीन नगर सेठ थे । उन्हों ने उसी समय सभी सेठियों को एकत्रित किया और बादशाह की बात उनके समक्ष रखी । सभी सेठों ने आश्वासन दिया । किसी ने एक दिन का, किसी ने दो दिन का किसी ने ४-५-१० और पन्द्रह दिनों का खर्च लिखवाया । इसी तरह लिखते चार मास की मितियां लिख दी गई । अभी आठ महीने अवशेष थे । अतः उन दिनों की पूर्ति करने के लिए दूसरे गांव-नगरों में जाने की आवश्यकता समझी । नगर सेठ और कुछ प्रतिष्ठित सज्जन वहां से पाटण गए । वहां के सेठों ने दो महीने की तिथियां लिखा दीं । वहां से वे धोलका गए । वहां दस मितियां लिखी गई । इस प्रकार १९० (ऐक सो नब्बे) दिन लिख लिए गए । पर इस कार्य



को करने में उनके बीस दिन लग गए । महीने की अवधि थी । दस दिन ही शेष रह गए थे । और कार्य तो अभी आधा ही प्रायः हुआ था । अतः चांपसी महेता को चिन्ता होना स्वाभाविक था । वे धोलका से धंधुका जाने के लिए प्रस्थित हुए । मार्ग में एक छोटा सा गांव आया, जिसका नाम हडाला था । वहां पर खेमा देदराणी रहता था । वह अपनी भैसों को पानी पिलाने के लिए कुएं पर जा रहा था । वेशभूषा बिल्कुल साधारण थी । जाते हुए सेठों को उसने देखा तो पास जा कर बोला :-

"मेरी हाथ जोड़ विनती है कि....."

विनती शब्द सुनकर सेठों ने समझा कोई गरीब व्यक्ति है । भीख चाहता होगा ।

एक सेठ बोला :-

"जो चाहिए जल्दी बोलो । हमारे पास समय बहुत कम है ।"

खेमा :- "भोजन का समय है । आप सभी मेरे यहां भोजन करनें पधारिए । बिना भोजन किए आपको मैं जाने नहीं दूंगा ।"

सेठों ने टालने का बहुत प्रयास किया किन्तु उस के अति आग्रह को देखकर उन्हें स्वीकृति देनी पडी । सभी भोजन करने उसके वहां गए । खेमा ने उनके बैठने के लिए एक गद्दा बिछा दिया । उसकी धर्मपत्नी ने शीघ्र ही सुन्दर, मधुर भोजन बना दिया । भोजनोपरान्त खेमा देदराणी ने पूछा :-

"यदि गोपनीय न हो तो कृपया बताएं कि आप प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ऐसा कौन सा कार्य आ पड़ा कि आप लोग स्वयं चल-चल कर धंधुका पधार रहे हो ?"

नगर सेठ ने आदि से अन्त तक सारी बात बताई । फिर बोला :- "इस महान कार्य में आप भी अपना कुछ योगदान देना



चाहें तो दे सकते हैं ।"

खेमा सरल - स्वभावी था और पूर्ण पितृभक्त था । उसने कहा :- "आप ठहरिए, मैं अपने पिता जी से थोड़ा परामर्श करके आप को उत्तर देता हूं ।"

खेमा के पिता जी वृद्धावस्था के कारण कमरे में सोए रहते थे । उसने जाकर सारी बात की ।

पिता ने कहा :-

"खेमा ! ऐसा अवसर पुनः पुनः नहीं आता । 'शाह' की लाज रखना है । अपने पास धन की कमी नहीं है । हम लोग गांव में बैठे हैं । शहर-निवासियों को तो हर समय लाभ मिलता है । इसलिए तूं इस सुनहरी अवसर को मत चूक । बारह ही महीने लिखा दे ।"

खेमा तो पहले ही यही चाहता था । उसने सेठों को आ कर निवेदन किया :- "आप लोग तो समय-समय पर हंमेशा लाभ लेते ही रहते हो, अब यह लाभ मुझे दीजिए ।"

सेठों ने सोचा कहीं यह पागल तो नहीं हो गया । चाम्पानेर के सेठों ने मिलकर चार मास लिए हैं । पाटण वालों ने दो और यह अकेला बारह महीने लेने की बात करता है ।

नगरसेठ बोला :- "खेमा जी ! जहां पर लक्षाधिपति और करोडपति रहते हैं, वे भी बारह मास का खर्चा नहीं दे सके तो आप देने की बात करते हो । यह कोई बच्चों का खेल नहीं ।आप अपनी शक्ति पर गहराई से सोचें । आप कहो तो एकाध तिथि लिख दें आपके नाम ।"

खेमा ने सोचा; इनको मेरी वेशभूषा और मकान का बाह्य आकार-प्रकार देखकर शंका है । अतः इनकी शंका दूर करना चाहिए । अतः प्रकट में बोला :-

"आप मेरे मकान में सब जगह चरण डालने का कष्ट



करें । आप जैसे साधर्मिकों के पधारने का सौभाग्य कहां बार-बार होता है ।''

आग्रह करके अन्दर ले गया । भोंयरे में धन का भण्डार था । भोंयरा खोला तो सेठों की आंखे, रत्नों की चकाचौंध से चुंधियाने लगीं । अमूल्य हीरे, पन्ने, माणेक, मोती जवाहरात आदि के अम्बार लगे हैं । सोने-चांदी के ढेर पडे हैं । सब देख कर सेठ कानाफूसी करने लगे :-

''हम तो इसे गरीब समझ रहे थे । यह तो अरबो पति है ।''

नगरसेठ खेमा से बोला :- ''आप बारह मास तो क्या १२ वर्ष की तिथियां लिखवा सकते हैं । अब हमें शंका नहीं रही । आप को हम समझ न सके । क्षमा करे, हमने आपको कष्ट दिया । आपने हमें चिन्ता मुक्त कर दिया । हम सदैव आपके आभारी रहेंगें ।''

पश्चात खेमा देदराणी को सेठ ससम्मान चांपानेर ले गए । तीसरे दिन चारण को लेकर वे बादशाह के दरबार में उपस्थित हुए । उन्हें देख कर बादशाह बोला :-

''आपको ख्याल है, २५ दिन व्यतीत हो चुके हैं । मात्र पांच दिन शेष हैं । क्या अपने 'शाह' पद की इज्जत रख सकोगे ?''

नगरसेठ :- ''बादशाह ! हमारी इज्जत तो सदा ही बनी हुई है । हमारे यहां तो ऐसे-ऐसे भाग्यशाली बैठे हुए हैं कि एक वर्ष का सम्पूर्ण खर्चा एक ही व्यक्ति दे सकता है । बोलो, अब आप और क्या चाहते हो ?''

सुनकर बादशाह के पांवों तले से जमीन सरकने लगी । उसने *साश्चर्य खेमा से पूछा :-*

''तुम्हारे कितने गांव हैं ?''

खेमा :- ''मेरे पास तो एक पली और एक पायली है । पली



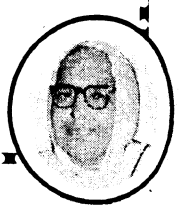
से तेल निकालता हूं और पायली से अन्न खरीदा जाता है । जैन धर्म के प्रभाव से मैं सुखी हूं ।''

बादशाह को मानना पड़ा कि चारण का कथन वस्तुतः सत्य है, ''शाह पहले बादशाह पीछे ।''

विक्रम सम्बत १५३९ में एक वर्ष तक अन्न आदि देकर खेमा देदाराणी ने गुजरात की जनता को दुष्काल के संकट से मुक्त कराया । आज भी उनकी यशोगाथा इतिहास के पृष्ठों पर ही नहीं, जन-जन की जिह्व पर भी चमक रही है ।

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆

आदमी खुद कमजोर नहीं होता...
उसका संकल्प बल कमजोर होता है !
और जब संकल्प ही कमजोरी का
शिकार होता है... तब तरह तरह की
समस्याएं बेवजह परेशानी का पहाड़
खड़ा कर देती हैं ...
यदि संकल्प का बल है ...
कुछ कर गुजरने की ख्वाहिश है,
तो हौसला मत हारो !
कोई तुम्हें हरा नहीं सकता या
तुम्हारे ध्येय से हटा नहीं सकता !
सिवा कि तुम खुद हौसला गंवा बैठो
और जिन्दगी की दौड़ में पिछड़ जाओ !
स्पर्धा में जीतना या नहीं जीतना
यह अहम् बात नहीं है ... सवाल है
संघर्ष जारी रखने का !
जद्दोजहद् को जिन्दा रखने का !



कवि कालिदास की करूण मृत्यु

राजा भोज के नाम को कौन नहीं जानता । उसके जीवन का सर्वप्रिय शौक काव्यरस था । उसके दरबार में प्रायः कवि सम्मेलन होते रहते । प्रखर विद्रान कवि कालिदास, काव्य शैली में अदभुत यश - प्राप्त, भारत का अजोड कवि, राजा भोज का अतीव स्नेह भाजन था । कालीदास की मृत्यु का कारण एक वेश्या की अर्थवासना बनी । घटना इस प्रकार है :-

उन दिनों में लंकानरेश के पास कुमारदास कवि था । उसके काव्यों में कालिदास जैसी ही छांट दिखर्ती थी । परस्पर दोनों का मेल न हुआ था परंतु दोनों की काव्य रचना की कॉपियां परस्पर मिलतीं । इसी में मानसिक स्नेह बढ़ता गया ।

एक बार कवि कुमारदास ने ''जानकी हरण'' नामक काव्य बनाया । उसकी कॉपी कालिदास के हाथ में आई । पढ़ी, तो इस काव्य में अपने काव्य जैसी ही मधुरता और मानो स्वयं ही रचा हो, ऐसा आभास हुआ । उसके मन में कुमारदास को मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जागी । अतः लंका तरफ प्रयाण किया और क्रमशःएक दिन लंका पहुंच गया ।

कहा जाता है कि जब वह लंका पंहुचा तो रात हो गई थी । अतः एक रात अन्यत्र विश्राम करके प्रातः राजदरबार में जाने का विचार किया ।

तदनुसार चलते- चलते किसी के द्वार को खटखटाया । बदनसीबी से वह घर वेश्या का था । कवि कालिदास को तो



कल्पना भी न थी कि वह वेश्या होगी । वेश्या के मन में हुआ कि रात के समय मेरा कोई ग्राहक आया होगा । उसने द्वार खोला तो कालिदास ने कहा : -

"बहन ! मुझे मात्र रात भर विश्राम करना है । प्रातः तो मैं राजदरबार में चला जाऊंगा ।"

वेश्या ने उसे नख - शिख देखा और कवि की कमनसीबी से एक कमरा रात्रि- विश्राम के लिए दे दिया । कालिदास थकावट के कारण निश्चिंत होकर शीघ्र निंद्राधीन हो गया ।

इधर घटना क्या बनती है कि वेश्या को रात में नींद नहीं आ रही थी । उसके मनमें विचारों का दौर चल रहा था । वह बिस्तर पर पड़े-पड़े कुछ बोल रही थी ।

बात यों थी कि लंका नरेश ने राजसभा में एक समस्या पूर्ति की परीक्षा की थी कि : -

"कमले कमलोत्पत्ति श्रूयते न च दृश्यते ।"

(अर्थात् कमल में कमल की उतपति होती है, ऐसा सुना जाता है, पर दिखाई नहीं देता ।)

इस समस्या की पूर्ति - कर्ता को राजा की ओर से भारी पुरस्कृत किया जाना था । इस लालच में लंका के विद्वान कई दिनों से इसका उत्तर प्राप्त करने में दिन-रात एक कर रहे थे । इस वेश्या को भी इनाम की चटपटी लगी थी पर उत्तर मिल नहीं रहा था ।

मध्य रात्रि में वेश्या की आवाज़ सुन कर कालिदास की नींद खुल गई । कान देकर सुना, तो वेश्या काव्य की कड़ी जैसा कुछ



बोल रही थी । कालिदास उठ कर बैठा । फिर आश्चर्य सहित उसके Room के पास पहुंच गया । वेश्या को पूछा :- 'बहन ! यह क्या बार-बार बोल रही हो ?''

वेश्या ने सब बात की । कवि ने भी निर्दोष भाव से पल भर में ही इस पूर्ति का उत्तर दे कर वेश्या को संतुष्ट किया । वेश्या ने उसका नाम पूछा तो चकित रह गई । कवि अपने स्थान पर जा कर पुनः गाढ़ निंद्रा में सो गया । कवि द्वारा प्राप्त समस्या पूर्ति से वेश्या खुश तो हो गई , तथापि उसे नींद न आई । उसके मन में घमासान युद्ध होने लगा । वह सोचने लगी कि आगामी कल जब मैं राजदरबार में यह जवाब दूंगी तब ''यह'' भी तो वही होगा । यदि मेरा भण्डा फूट गया तो शायद ईनाम चला जाए अथवा यह कालिदास आधा भाग मांगे,तो?

वेश्या ने तुरंत निर्णय कर लिया कि अभी ही इस कालिदास को यमलोक पहुंचा दूं । और ... सचमुच उस वेश्या ने रसोई में जाकर एक धारदार छुरी उठाई । कालिदास के कमरे में जाकर देखा, तो कवि गाढ निंद्रा में सो रहा था । कुछ पल उसके निर्दोष चेहरे को देखती रही । और फिर ... एका एक स ... न .... न .... न..... करतीं उस छुरी को कालिदास के गले पर चला दिया । सैकन्डों की गिनती में ही कवि का धड़, मस्तक से अलग हो गया है । खून का फव्वारा उड़ा ... निंद्रा देवी की गोद में सोया कवि, कल्पना बिना दुनियां में से चलता बना । वेश्या के अन्तर में जागी पाप की वासना आज वाघण बनकर कवि पर झपटी थी । इतने से ही वेश्या को शांति न मिली । वह इससे भी क्रूर कृत्य करने को तत्पर हो उठती है ।

अपने कुकृत्य को छिपाने के लिए कवि के देह के टुकड़े टुकड़े कर देती है । कितना कठोर होगा ह्रदय उस वेश्या का ? अर्थ



की वासना देखो क्या कुछ करा रही है । कवि के देह के टुकड़ों को अपने ही घर में खड्डा खोद कर रातोंरात दबा देती है । खून से सने अपने कपड़े और कमरे को एक दम साफ-सूफ कर लेती है ।

दूसरे दिन राजसभा में जा कर ईनाम की आशा से वेश्या एकदम खुश-खुश हो कर बैठी हैं । एक के बाद एक विद्वान उत्तर देते हैं, परंतु राजा को संतोष नहीं होता । तब अधीरता से वेश्या ने पूछा :- "मैं बोलूं ?" राजा के "हां" कहने पर वह खड़ी हो कर बोली :-

" राजन् ! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ! "

(अर्थात् - राजन ! आपके मुख कमल पर दो नेत्रकमल उगे हुए हैं नं !)

उत्तर सुन कर राजा सहित सारी सभा खुश हो गई । राजा तो वेश्या पर इतना मेहरबान हुआ कि अपने गले सें नवलखा हार उतार कर वेश्या के कण्ठ में पहनाने के लिए आगे बढ़ा परंतु उसी समय कुमारदास कवि के मन में शंका हुई और भर सभा में राजा को रोक कर कुमारदास कुर्सी पर से खड़ा हुआ । राजा को कहा :-

" राजन् ! एक मिनिट रुकिए .... "

सभा में एकदम सन्नाटा छा गया । सबके मन और आंखें कुमारदास पर टिक गई । वेश्या का मन कांपने लगा । राजा भी प्रश्न वाचक दृष्टि से कवि के मुंह को देखने लगा । कवि ने कहा :- " मुझे इस बहन से एक दो प्रश्न पूछना है क्योंकि यह उत्तर मुझे इसका स्वयं का खोजा हुआ नहीं लगता । "

समस्यापूर्ति सुनकर कुमारदास कवि समझ गया था कि इस उत्तर में कवि कालिदास की छांट है । परंतु कालिदास तो इस



समय यहां कहां हो सकते हैं ? तथापि दाल में कुछ काला जरुर है । यही सोच कर कुमारदास ने वेश्या को कड़कती आवाज़ से पूछा :-

"बोल ! यह उत्तर किसका है?"

वेश्या को काटो तो खून नहीं । भय से कांपते हुए उसने कालिदास का नाम ले दिया । नाम सुनते ही कुमारदास का चेहरा खुशी से दमक उठा । पूछाः- "कहां है वह? " अब वेश्या क्या उत्तर दे ? वह चुप खड़ी रही । बार-बार पूछने पर उसने सब बात बता दी कि मैं ने उसका खून ... . ।

सुनते ही कुमारदास तो रोने लग गया । सारी सभा में हाहाकार मच गया । सब घृणा से वेश्या को देखने लगे । कुमारदास वेश्या से रोते रोते बोलाः- "अरी, अभागिन स्त्री ! कालिदास तो अब इस दुनियां में आ नहीं सकता! अब उसके मृत -मुख के ही दर्शन करा दे । ऐसा कह कर वेश्या के साथ उसके घर आता है । वहां वेश्या उस खड्डे में से कालीदास के टुकड़े बाहर निकालती है । कवि के निर्दोष मुख को देखते ही कुमारदास धाड़ें मार - मार कर रोने लगा । वायुवेग से यह समाचार पूरी लंका में फैल गया । लंका में ही उसकी श्मशान यात्रा निकलती है । कहते हैं कि उस यात्रा में लाखों की मेदनी थी । लंका नगरी का बच्चा - बच्चा हिचकी भर - भर कर रोया था । कैसा करुण दृश्य होगा वह?

कालिदास की चिता को देखकर तो कुमारदास अपने ह्रदय को वश में न रख पाया । वह बोल उठाः-

"ओ कवि सम्राट ! आप जीवन में प्रथम बार ही मुझे मिलने आए थे, पर मै अभागा आपको मिल न सका । मुझे भी इस दुनियां में जी कर करना क्या है?"



और सचमुच इतना कहते -कहते , सबके देखते-देखते कुमारदास ने धधकती चिता में एकाएक छलांग लगा दी ।

कुमारदास, कवि कालिदास के ऐसे करुण मृत्यु के दुःख को पचा न सका । आग की लपटों में दोनों की देह एक साथ जल गई ।

वेश्या की अर्थ की वासना ने दो दो महान कवियों को इस दुनियां में से झपट लिया ।

ठीक ही कहा हैः-

"अर्थ, अनर्थ की जड़ है ।"

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖

औरों को सलाह- सूचना देते वक्त हर आदमी समझदार और शिष्टता का दिखावा करता है.... जबकि वही सलाह स्वयं के जीवन में उतारने की वात आती है तब शिष्टता... समझदारी.. सब कुछ धुंधला... अस्पष्ट हो उठता है !



प्रश्नोत्तरी

1. दस
2. कर्माशा
3. सोने
4. २½/3
5. मानस
6. जयवीयराय, छोटी शांति बड़ी शांति
7. चौथे
8. ताड़
9. लल्लिंग
10. नृपसिंह
11. कुल
12. ४००
13. दादाकी
14. एकभी नहीं
15. अज्ञान
16. अशोक
17. विजयानन्द सूरि
18. बाहड़ मन्त्री
19. चौवीसवें
20. कुरगडु मुनि
21. जन्म
22. प्रभास
23. भरहेसर
24. गुण
25. अरविन्द
26. दादा की टूंक
27. कपर्दी
28. कौस्तुकी
29. चौथे
30. सगर
31. मुनि विष्णु कुमार
32. सुषमदुषम
33. राम
34. वि. वल्लभ सूरि
35. गुरु
36. 16
37. ज्ञान
38. सात
39. तीन
40. बर्नार्डशा
41. तीन
42. महुवा
43. नयसार
44. आठ
45. 2000
46. अठम
47. बहुल
48. अन्नथ



49. कुम्हार
50. मम्माणी
51. आ. सुमुद्र सूरि
52. मन्हजिणाणं
53. मोर
54. उत्तराषाढ़ा
55. आनन्द पुर
56. जीवानन्द
57. वरकनक
58. दुप्पसह सूरि
59. 238
60. 274
61. सात
62. श्रद्धा करना
63. मोतीशा
64. 19
65. संतिकरं, तिजयपहुत, बड़ी शांति
66. 40000
67. अष्ट प्रकारी
68. आ. इन्द्रदिन्न सूरि
69. रेवती
70. भानजे
71. वेश्या
72. दण्डवीर्य
73. जिनभद्र गणि
74. विजय सेन
75. शान्तनु
76. इशानेन्द्र
77. १० करोड
78. प्रतिमा देवी
79. हरिलाल
80. वेश्या
81. एक मास
82. चिलाती पुत्र
83. २४
84. देव
85. जशवन्त श्रीजी
86. गुरु
87. दुख
88. ३६
89. अज्जा
90. भवदेव
91. पेथड
92. बारह (१२)
93. भद्रबाहु
94. पांच
95. छठे
96. मणिभद्रवीर
97. स्वर्गारोहण
98. छठे
99. तीसरी
100. साध्वी प्रियदर्शना श्री जी



श्री कृष्ण जी के जीवन के दो प्रसंग

प्रसंग I

" रूप ? ओह ! संसार भर में घूम आओ, मेरे जैसी कोई रूपरानी मिले तो उसके चरण चूमूं ! कृष्ण भी मेरे बिना फीके लगते हैं, चांदनी बिना चंदा शोभे क्या ? "

" और मेरा प्रेम ? उसकी तो बात ही जाने दो, यह गिरधर तो मेरे प्रणय के लिए पागल है । मेघ बिना मोर तड़पे, इस तरह मुरारी मेरे वियोग में झूरता है । मेरे लिए श्री कृष्ण सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार है । "

सोना और चांदी के मढ़े हुए पलंग पर मशरू की तलाई पर, लेटी हुई सत्यभामा के मन के भाव उसके मदभर नयनों में नृत्य कर रहे थे । उसके दर्प ने उसके रूप पर लाली चुपड़ दी थी ।

आकाश के चंदा, और स्वर्ग की उर्वशी से भी सत्यभामा अधिक शोभ रही थी ।

रानी सत्यभामा मन के भावों के साथ क्रीड़ा कर रही थी, तभी अचानक, बाहर से आवाज़ आई :- खट् ..... खट् ..... ।

रानी चिड़ गई । उसने परिचारिका को सम्बोधन करके कहा :- " रे वनलता ! अच्छी तरह सुन..... यह कर्कश आवाज़ कैसी है ? जा, उसे बन्द करा, मेरे चिन्तन में खलेल पैदा होता है ।"

खट् ..... खट् ..... खट् ..... !



" ओह ! ये तो नारद जी ! " यह नारदजी की पादुका की आवाज़ थी । रानी एक ही झटके में खड़ी हो गई । सुन्दर हस्तांगुली द्वारा अंजलिबद्ध प्रणाम किया !

" कहो प्रभु ! कैसे दर्शन दिए ? "

" रानी ! तुम्हारे चरणोदक और चरणरज की जरूरत पड़ गई है। झट करो, झट । अति शीघ्र जरूरत है । "

" क्यों देव ! किसलिए ? "

" श्री कृष्ण को उदर में भयंकर शूल उठी है । वेदना असह्य है । प्राण और श्वास अलग होते देर नहीं होगी रानी ! विलम्ब को अवकाश नहीं । "

" क्या..... क्या..... मेरे प्राणनाथ को....."

" हां, उसे ही सत्यभामा ! त्वरा से चरणोदक और चरणरज दे दो । तभी वह पीड़ामुक्त होंगें । सती ! जल्दी दो, अविलम्ब ! अविलम्ब ।"

" नहीं, प्रभु ! वे मेरे पति हैं - परम पूज्य पति ! मैं उन की अर्धांगना हूं । उनका चरणोदक मुझे, लेना चाहिए, देना नहीं । दूं तो रौरव नरक मिले..... ना.... ना..... मुझ से दिया नहीं जाएगा ।"

" अरे ! पर सत्यभामा....."

" आप जल्दी सिधावो । अन्य कितनी ही रानियां हैं । उनमें से किसी का भी चरणोदक - चरणरज प्राप्त करो । मेरे स्वामी को तत्काल स्वस्थ करो प्रभु ! मैं पतिव्रता हूं । चरणोदक पिला कर मैं नरक में जाना नहीं चाहती । "



" जैसी मर्जी " नारद के मुख पर ग्लानि छा गई । वे चले अब रूक्मणि के पास । वह तो केशकलाप सजा रही थी ।

नारद जाते ही बोले :- "अब शृंगार सजना छोड़ोगी या..... ? "

रूक्मणि घबरा गई । अचानक मुनि के आगमन से वह कांपने लगी । तथापि स्वस्थता से पूछा :- " कहो मुनि ! किस निमित्त पधारे हो ? मैं आपका क्या शुभ करूं ? "

नारद मुनि आवेश में थे । भगवान श्री कृष्ण के लिए चरणोदक प्राप्ति की पहली ही निष्फलता ने उन्हें व्यथित बना दिया था । वे बोले :- "रूक्मणि ! तत्काल चरणोदक और चरणरज दो । अपने स्वामी श्री कृष्ण को भयंकर शूल वेदना उत्पन्न हुई है । "

" हो नहीं सकता..... !"

" तो क्या मैं असत्य वाणी बोल रहा हूं, रानी..... ? "

" नहीं.... नहीं..... नहीं... देव ! आत्मीयजन सम्बन्धी अशुभ शंका कोई प्रणयीजन सहन नहीं कर सकता । मुझे माफ करो । मैं तो उनकी प्राणप्रिय पत्नी हूं । वे मेरे हृदय के हार हैं । उन्हें मेरा चरणोदक कैसे दूं ? मैं अत्यन्त व्यथित बन गई हूं..... इस बनाव से । प्रभु ! उन्हें तुरंत पीड़ामुक्त करो देव" ! शृंगार सज रही रूक्मणि शोकार्त बन गई ।

नारद चारों तरफ घूम आए । किन्तु किसी को भी नरक की चाहना न थी । स्वामी व्यथामुक्त बनें, सबको यही चाहना थी । परन्तु इस के लिए समर्पण वृत्ति न थी । नारद मुनि कृष्ण की वेदना से भी, रानियों की इस संकुचित मनोवृत्तिओं से शोकातुर बन गए । कृष्ण की पीड़ा से भी नारद की पीड़ा अधिक बढ़ गई । अरे, कृष्ण के लिए इतनी कुर्बानी कोई नहीं करेगी ?



अन्य एक रानी तो बोलने लगी :- " कहो तो प्राण दे दूं, पर चरणोदक तो दिया ही कैसे जाए ? कृष्ण तो पीड़ा से पागल हुए, पर आप भी क्या पागल हो गए हो ? "

नारद जी बेचैन हो गए । मुरारी को मोहनगारी अनेक रानियों में से उन्हे चरणोदक जैसी क्षुद्र वस्तु भी कोई न दे ? वे तो भागे वहां से । जहां सर्वस्व समर्पण नहीं वहां संत को रहना सुहाता नहीं । वे पहुंचे व्रजभूमि में ।

वायु में गहरी व्यथा थी । गोप और गोपियां सभी विरहाग्नि में जल रहे थे । अन्न और आराम उन्होंने त्याग दिया था । उन्हें कृष्ण का विरह असह्य था ।

सबके दिल - दिमाग पर कृष्ण का कामण था ।

काहन विना वृज व्याकुल था । सभी उनके आगमन की प्रतीक्षा में थे । विरह में आतुर आंखें और आत्मा आंसू बहाते ।

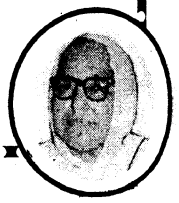
ऐसे वृज में नारद आ पहुंचे । रास्ते में एक पनिहारी मिली । वह गोपी थी । उसके मुहं पर वेदना थी । कृष्ण-विरह की आग में वह जल रही थी । उसके मुख पर गीत था..... धीरे धीरे वह गुन गुना रही थी :-

" गोकुल जल्दी जी पधारना ..... ॥ "

नारद ने उसे मार्ग में रोक कर पूछा :- " हे गोपी रानी ! व्रज का मार्ग यही है क्या ? "

गोपी बोली :- "आओ ऋषि जी ! आपका स्वागत करती हूं । व्रज का पंथ यही है । आप कहां से पधार रहे हो ?"

गोपी की आवाज में मानो संगीत का लय था ।



नारद बोले :- " द्वारिका से । "

" हैं ! द्वारिका से..... ? ओह ऋषि जी ! ठहरो, ठहरो । मेरे कृष्ण की कोई खबर ? उस काहन ने कोई सन्देशा दिया है ? अरे - रे मुरारी के मुख-दर्शन विना हमारी क्या हालत है, इसकी उसे क्या जानकारी?" गोपी के शब्द-शब्द में आंसू टपकते थे । उसके अन्तर की व्यथा आंखों के रास्ते से बह रही थी ।

" गोपी ! काहन ने सन्देशा कहलाया है कि....."

बीच में ही अधीरता से गोपी बोली :- " हैं ! सन्देशा भेजा है ? बधाई हो मेरे गिरधर को ..... त्वरा करो ऋषि ! जल्दी बोलो उन्होने क्या कहा है । मेरे मुरलीधर ! चिरं जीवो । "

" कृष्ण को भयंकर शूल वेदना पैदा हुई है....."

"ओह प्रभु, यह वेदना ? रे विधाता ! हमारे प्रीतम को यह दुख क्यों ? ओह प्रभु यह वेदना मुझे दे दे..... अरे मैं तो भूल गई । बोलो, उसे यह वेदना कैसे हुई ? क्यों हुई ? जल्दी कहो ऋषि, अब रहा नहीं जाता...ओ रे !"

"काहन ने कहा है कि जाओ, जिसे मेरे प्रति प्रेम हो उसका चरणोदक और चरणरज ले आओ तो मेरी वेदना शम सके ।"

"लो, मैं देती हू । "

" रुको देवी, पर यह, जो देगा उसे भयंकर नरक मिलेगा, ऐसा पंडितों ने कहा है ।"

गोपी के वदन पर हास्य स्फुरित हुआ । बोली :-

"ऋषि ! काहन से अधिक क्या है ? काहन है तो व्रज है । काहन से वृज महान है । मेरे कृष्ण कन्हैया को कहना,



"तेरे पर श्रद्धा अटूट है । मेरे चरणोदक से जो तेरा दर्द मिटता हो तो भेज रही हूं । पियु ! गोकुल जल्दी पधारना । तेरे बिना व्रज सूना है ।"

इतना कहते-कहते गोपी ने चरणोदक और चरणरज दिया ... मुख में से ध्वनि निकल रही थी :-

" तुम्हारे कारण सब कुछ छडया-

अब मोहे क्युं तरसावो ? "

गोपी की आंखों में से समर्पण का तेज चमका ।

नारद जी वापिस आए ।

सत्यभामा को बात की जानकारी मिली । तब उसे अपना अभिमान मिथ्या लगा । उसने गर्व को छोड़ दिया ।

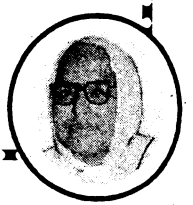
नारद जी कृष्ण को मिले । उसे तो कोई वेदना हुई न थी । यह तो नारद ने परीक्षा ली थी !

कृष्ण को नारद ने सब बात कही । तब मुरलीधर वीणा बजाते हुए बोले :- " नारद ! व्रज वासी की भक्ति और प्रेम कोई अजब चीज है । व्रज की दिलदारी भी गजब है । यह तो दिल के दलाल के साथ मुझे सर्वस्व समर्पण कर चुकी हैं ।

अन्य सब की बातें तो ..... नारद .....? "

कृष्ण पुनः वीणा बजाने लगे । वीणा में से अजब सुरावलि बह रही थी । मानो गोपी की प्रेम-भक्ति का अभिनन्दन करती हो ।

* * * * * * * * * * * *



प्रसंग II

" आप द्रौपदी से ज्यादा प्रेम करते हो । मैं आपकी सगी बहन हूं ; तथापि आपका मेरे से स्नेह कम है । जब कि मैं आपको दिलो जान से चाहती हूं ।" सुभद्रा के शब्दों को सुनकर श्री कृष्ण हंसे और बोले :-

" द्रौपदी और तुम्हारे बीच मेरे प्रेम का अन्तर नहीं है । परंतु जितना मैं तुझे चाहता हूं उतना तुम मुझे नहीं चाहती । जब कि द्रौपदी को मुझसे ज्यादा स्नेह है । "

" यह कैसे हो सकता हैं ? मैं तो आपकी सगी बहन हूं । मुझे आप पर अधिक स्नेह उमड़ता है ।" सुभद्रा ने कहा ।

"समय आने पर इसका उत्तर तुम्हें स्वयं मिल जाएगा । " कृष्ण बोले ।

कुछ दिन बाद एक बार श्री कृष्ण सुभद्रा के पास आए और अपनी कटी उंगली दिखा कर बोले :-

"बहन ! बहुत खून जा रहा है । इस उंगली पर पट्टी बांध दे ।"

इधर इन्होंने अपनी माया से सुभद्रा के पुराने कपडों को भी नए बना दिया । सुभद्रा पुराना - कपड़ा ढूंढती रही कोई भी लीर उसके हाथ न लगी । उसने आकर भाई से कहा, " भाई, पट्टी तो बांध दूं परन्तु कोई लीर ही दिखाई नहीं दे रही ।"

तब श्री कृष्ण जी बोले :- "चलो, द्रौपदी के यहां चलते हैं ।"



दोनों वहां पहुंचे । श्री कृष्ण जी की उंगली से बह रहे खून को देखते ही द्रौपदी एकदम चीख सी उठी :-

" भाई ! यह क्या ? इतना खून ? " और इतना कहते कहते ही उसने अपनी पहनी हुई साड़ी फाड़ कर तुरन्त पट्टी कर दी ।

श्री कृष्णजी सुभद्रा की ओर देख कर हंसे । उस हंसी में छिपे अर्थ को सुभद्रा समझ गई कि भैया ने ठीक ही कहा था । द्रौपदी में और मेरे में यही अन्तर है । पट्टी कर चुकने के बाद श्री कृष्ण द्रौपदी को बोले :-

" इस चीर का बदला इक दिन तुझे चुका दूंगा ।

एक साड़ी तो क्या तुझे साड़ी की नारी बना दूंगा ।"

और एक दिन .....

जब धृतराष्ट्र की सभा में द्रौपदी का चीर-हरण हुआ तो श्री कृष्ण ने अपना वचन निभाया । द्रौपदी का दुकूल बढ़ता ही गया । बढ़ता ही गया । दर्शक लोग उस दृश्य को देख कर असमंजस में पड़ गए ।

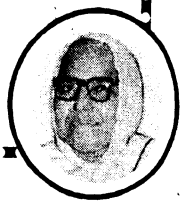
कवि के शब्दों में :-

" सारी बीच नारी है या नारी बीच सारी है ।

सारी ही की नारी है या नारी ही की सारी है ।"

इसी लिए तो कहते हैं कि भक्तों के मन में तो भगवान होते ही हैं, परन्तु भगवान के मन में भक्त बस जाए तो बेड़ा पार हो जाए । उपरोक्त प्रसंग इस बात का साक्षी है ।

✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧



ओसवाल वंश की उत्पत्ति

किसी भी स्थल का नाम प्रायः प्रायः कोई न कोई निमित्त को लेकर रखा जाता है । कोई भी नाम प्रायः सार्थक ही होता है । 'विहार भूमि' नाम क्यों पड़ा ? क्यों कि भगवान महावीर स्वामी जी का इसी क्षेत्र में विचरण अधिक रहा अतः विहार करते रहने के कारण ही विहार प्रान्त नाम पड़ा ।

प्रभु के विचरण के कारण, नित्य की धर्मदेशना के कारण वहां पर ४० लाख जैनों की बस्ती थी परन्तु आज उस क्षेत्र में कसम खाने को भी जैन का एक भी घर नहीं । इतना बड़ा प्रान्त, इतनी बड़ी ४० लाख की जैन बस्ती और फिर भगवान को तो अभी २५०० वर्ष ही प्रायः हुए हैं तो क्या हुआ होगा जैनों को ? क्या वे सभी मर गए ? या भाग गए अथवा उन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया ? क्या हुआ, ये प्रश्न स्वाभाविक है ? परन्तु भगवान के समय वे सब चुस्त जैन थे । इसी कारण मन्दिर और तीर्थ आज भी विद्यमान हैं ।

प्रभु,वीर के निर्वाण पश्चात जब शैवों का जोर चला, शंकराचार्य, जो कि जैनों के विशेष विरोधी थे, जिन्होंने जैन संस्कृति के प्रतीक, जैन आगमों,- शास्त्रों की छः मास तक होली जलाई । उन्होंने शैव धर्म का खूब प्रचार किया । राज सत्ता भी शैव बनाई ।

उनके अनुयायी बहुत थे । वे सब मिल कर गांव-गांव में जा कर हल्ला बोलते । राजसत्ता उन्हीं के पक्ष की थी । अतः वे लोग (शैव) कहते- "निकल जाओ यहां से अन्यथा प्राण देने को, बलिदान देने को तैयार हो जाओ । शिव धर्म को स्वीकार नहीं करोगे तो

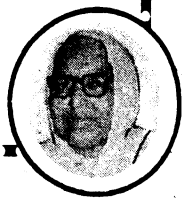


हम तुम्हें मार डालेंगे । एक भी जैन का बच्चा रहना नहीं चाहिए । सभी चुपचाप शंकराचार्य की शरण में आ जाओ यदि भला चाहते हो तो... आदि आदि....।"

इस प्रकार के हल्ले को सुन कर अपने अपने बाल-बच्चों सहित घर-बार को छोडकर- पांच- सात गांव दूर जा कर जहां हल्ला न होता, शांति होती वहां जा कर रह जाते । शंकराचार्य ने विहार प्रान्त की शुरुआत के गांवों से ही अपना यह काम चालू कराया । जब पूरा गांव खाली हो जाता तब दूसरे गांव में जा कर धावा बोल देते । ५-७ महीने में वह गांव भी खाली हो जाता । उन दिनों वहां विशेष बस्ती जैनों की ही थी ।

शैव लोग एक-एक करके इसी तरह गांव खाली कराते जाते और जैन लोग भी २-३ वर्ष एक गांव में रहते फिर उस गांव की बारी आ जाने पर उन्हें आगे जाना पड़ता । ऐसा करते करते उनकी आर्थिक स्थिति एकदम घिस गई क्योंकि उस समय उनका व्यवसाय खेती बाड़ी ही होता था । सोना-चांदी-हीरे का या अन्य कोई धंन्धा न था । खेती बाड़ी तो उठाई नहीं जा सकती । वह तो सब अपने मूल गांव में ही रह जाती । धीरे धीरे करते खाने का भी सांसा पड़ने लगा ।

देशना के अभाव में लोग अपने धर्म को भी भूलने लगे । एक-दो पीढ़ी तो देखादेखी करती रही । अब आगे संस्कारों के अभाव में और साधु-साध्वी की योगवाई न होने से तीसरी चौथी पीढी आते-आते जैन धर्म के संस्कारों का अभाव हो गया । जैन धर्म प्रायः लोप होता गया । बार-बार स्थानान्तर होने से आर्थिक स्थिति भी खराब होती गई । खाने, पीने, रहने - पहनने आदि की चिन्ता बढ़ती गई । जैसा - तैसा खाकर, जैसा-तैसा पहनकर समय



व्यतीत करने लगे । आगे आगे के गांवों में बसने से, कोई उनका परिचित भी न रहा । वैसे भी सब पैसे के सगे होते हैं । जीयागंज-अजीमगंज तक पहुंचते इनकी स्थिति काफी बदल गई थी । वहां के रईस लोग इनके मैले कुचैले, फटे कपड़े और बिल्कुल सामान्य स्थिति देख कर अपने पास तक फरकने नहीं देते थे ।

"ऐ, थोड़ा दूर बैठो ।"

"ऐ, गन्दे कपड़े पहन कर हमारे पास मत बैठो ।"

"अरे, कौन हो तुम ? जरा दूर से बात करो, छूना मत ।"

इस प्रकार भिखारी जैसी उनकी स्थिति देख कर तिरस्कार कर देते । अपमानित होकर वे दूर चले जाते ।

इस तरह जैनत्व नाम की कोई चीज उनमें शेष न रही । क्षत्रियों के साथ रहने से, वे सब भी क्षत्रिय कहलाने लगे ।

ऐसे काल में उन दिनों, उस प्रान्त में आचार्य विजय रत्नप्रभ सूरि जी म० विचरण करते थे । वीर निर्वाण को अभी केवल ५२ (बावन) वर्ष ही हुए थे ।

जब से शंकराचार्य का जोर बढ़ा तभी से श्रावकों ने उन्हें (रत्नप्रभ सूीर म.को) कह दिया था कि "गुरुदेव हम तो गृहस्थ हैं । ये लोग उपद्रव करेंगे तो हम किसी भी साधन द्वारा, किसी भी समय स्थानांतर हो जाऐंगे । परन्तु आप तो पादविहारी हो, फिर चौमासे में या रात्रि में कहीं आ-जा नहीं सकते । अतः आप किसी अन्य प्रान्त में चले जाइए, जहां पर आप अपने आचार - विचार का पूर्णतया पालन कर सकें । आपश्री सुरक्षित होंगे तो जैनधर्म-जैनत्व भी कायम रहेगा । यदि आपको कुछ हो गया तो बहुत बुरा होगा । अतः



शासन की सुरक्षा के लिए आप अपने साधु - परिवार सहित राजस्थान की तरफ विहार कर जाएं । यदि शंकराचार्य को पता चल गया तो परिणाम अच्छा न आएगा । इत्यादि ।''

श्रावकों की बात मान कर शासन को, जैनत्व को सुरक्षित व कायम रखने के लिए आ० रत्नप्रभ सूरि जी म० ने राजस्थान तरफ विहार कर दिया । चलते - चलते जब चौमासे के दिन आए तो गुरुदेव ओसिया नगर में पहुंचे । वहां पर एक भी जैन न था । राजा भी शिव-भक्त (शैव) था - अजैन था ।

उस नगरी में कोइ भी, जैनधर्म के नियम या साधु के आचार-विचार से, परिचित न था । वैसे भी किसी ने कभी ऐसे वेष को देखा न था । अतः कोइ गोचरी - पानी के लिए भी पूछता न था ।

अब चौमासा शुरु हो गया तो गांव के बाहर शिवजी का एक मंदिर था । वहां की आज्ञा,लेकर चार मास वहीं व्यतीत करने का निश्चय किया । गुरु ने शिष्यों से कहा :-

''यह समय अपनी पूरी कसौटी का है । तुम सब अपने आचार - विचार में दृढ़ रहना । शासन देव अवश्य कुछ न कुछ चमत्कार दिखाएंगे । अपने को चारों मास निराहार रह कर, उपवासी बन कर ज्ञान-ध्यान में मस्त रहना है । अच्छा है, अपने को तपस्या करने का और ध्यान- स्वाध्यायादि करने का मौका मिला ।

इस प्रकार की प्रेरणा देकर सब शिष्यों को दृढ़ बनाया उस समय के शिष्य भी कच्चे-पोचे नहीं थे । गुरु की आज्ञा का पूर्णतया पालन करने वाले थे । अपने संयम में पक्के थे ।

सभी के उपवास चालू हो गए । धीरे धीरे करते पर्यूषण बीते



- ओली भी बीत गई और दीवाली के दिन भी आ गए । उनकी तपस्या से, संयम की साधना से, आराधना से मानो चमत्कार हुआ ।

अचानक ही राजकुमार को एक भोरिंग सांपने काट खाया । राजा ने बहुत मन्त्र-तन्त्र उपचार कराए, पर सब व्यर्थ । राजा,- राज परिवार, यहां तक कि सारी प्रजा में हाहाकार मच गया ।

आचार्य महाराज के कानों तक बात पहुंची । उन्होंने सोचा, "यह अच्छा मौका है, शासन- प्रभावना करने का ।"

वे आध्यात्मिक शास्त्रों के पारगामी तो थे ही, साथ में ज्योतिष मन्त्र-तन्त्र आदि विद्याओं में भी निपुण थे । जैन साधु, बिना कारण ज्योतिष आदि का उपयोग नहीं करते, पर कोई विशेष कारण से, शासन- प्रभावना या शासन सेवा का,कार्य हो, तो ही अपनी विद्याओं का उपयोग करते हैं।

गुरु म० ने कुछ विचार कर अपने दो शिष्यों को कहा कि तुम जंगल- पानी जाने के बहाने गांव तक जाओ और जो भी मिलता जाए, सबको कहते जाओ कि "हमारे गुरु महाराज बहुत ज्ञानी हैं, बहुत उपकारी हैं, अनेक शास्त्रों के जानकार हैं । अग्नि, विष आदि के उपद्रव को दूर कर सकते हैं ।"

इस पर वे लोग कहेंगे कि "आपके गुरु यदि विष दूर कर सकते हैं, तो राजकुमार को स्वस्थ कर दें, उसे सांप, ने काटा है ।"

इसके उत्तर में तुम लोग कहना :-

"यदि ऐसी बात है तो हमारे गुरुदेव, राजकुमार को स्वस्थ कर सकते हैं । यदि राजा की इच्छा हो तो आप हमें सूचित करें, आदि-



आदि ।''

इस प्रकार सिखा कर शिष्यों को भेजा । बस ५-७ व्यक्ति को कहने मात्र से ही कानों कान बात राजा तक पहुंच गई । राजा को गर्ज थी । वैसे तो जैन धर्म के प्रति उसे कोई लगाव न था पर अब पुत्र प्राणों का मोह था । उसने अपने सेवकों को कहा :-

''आप अमुक स्थान पर पालखी लेकर जाओ और उस साधु को विनय- नम्रता से हाथ जोड़ कर, शान से पालखी में बिठा कर यहां लेकर आओ ।''

राजाज्ञानुसार सेवक वहां पालखी लेकर पहुंच गए और अनुपम-विनय करके राजपुत्र को निर्विष करने के लिए राजमहल में पधारने की, राजा की ओर से विनती की ।

गुरु म०भी समयज्ञ थे । उन्होने विनती स्वीकार कर ली जब चलने लगे तो राजपुरुषों ने पालखी में बैठने का आग्रह किया । अब गुरु महाराज तो पाद विहारी थे, उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया और पैदल चल कर राजमहल पहुंचे । राजा ने यथोचित उनका स्वागत सत्कार किया । तत्पश्चात शीघ्र राजपुत्र के पास पहुंचे ।

राजपुत्र का शरीर एकदम नीला हो गया था । गुरु महाराज ने मन्त्र- यन्त्रों के प्रयोग से उसके शरीर को निर्विष बनाया । थोड़ी देर बाद ही राजपुत्र ने आंखें खोली और अंगड़ाई लेकर उठ कर बैठ गया । सब के हर्ष का पार न रहा ।

राजा ने गुरुदेव के पास हीरे माणेक मोती का थाल भर कर सामने रखते हुए कहा :-

''गुरुदेव ! आपने तो मेरे पर महान उपकार किया है । मैं आपको भेंट स्वरूप क्या दूं ? यद्यपि आपके ऋण से मैं कभी उऋणी नहीं हो सकता तथापि अपनी आत्मसंतुष्टि के लिए यह तुच्छ भेंट आपके



श्री चरणों में समर्पित है । आप इसे स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें ।''

गुरुदेव बोले :-

''राजन् ! ये सब तो मेरे पास बहुत था । इनको छोड़ कर मैं ने संयम मार्ग स्वीकार किया है । मुझे कुछ नहीं चाहिए । बदले की भावना से मैं ने विष नहीं उतारा, परोपकार की दृष्टि से ही यह किया है । अच्छा, अब हम चलते हैं ।''

राजा की प्रसन्नता की सीमा न थी । एक तो उसके बेटे को नवजीवन दिया, उसकी खुशी तो थी ही परन्तु अब अमूल्य हीरे माणेक - आदि के त्याग से राजा की श्रद्धा गुरु महाराज पर और बढ़ गई । उसने कहा :-

'' गुरुदेव ! आपको कुछ तो लेना ही पडेगा । ''

राजा के अति आग्रह पर गुरुदेव बोले :-

''राजन् यदि तुम्हारी बहुत भावना है, तो एक बात स्वीकार करो । सत्य को समझो और मानो ।''

''राजा ऊहापोह करने लगा कि सत्य क्या है ? मै क्या नहीं समझता ? क्या नहीं मानता ? आदि ''

कुछ क्षण विचार करने पर राजा को जब कुछ भी समाधान न मिला तो उसने गुरुदेव से विनती की, कि गुरुदेव आप ही समझाओ, सत्य क्या है ?

गुरुदेव ने उसे सत्य- अहिंसा- अस्तेय आदि सत्य धर्म समझाया । राजा प्रतिबोधित हुआ । उसने जैनत्व को स्वीकार किया ।

अब ''यथा राजा तथा प्रजा'' वाली बात हो गई । राजा ने आचार्य श्री को गुरु धारण किया तो प्रजा ने भी कर लिया ।

आचार्य श्री ने राजा को देव - गुरु और धर्म का स्वरुप



समझाया । राजा दृढ़ जैनधर्मी बन गया । तब राजा ने जिन मन्दिर-जिन मूर्ति की स्थापना कराई । जैन धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया, खूब प्रभावना की ।

इस ओसिया नगरी में अल्प संख्या को छोड़ कर प्रायः सभी क्षत्रीय थे । अतः "ओसिया" के नाम से, "ओसवालवंत्तश" की उत्पत्ति हुई ।

जितने उस नगरी में ब्राह्मण थे, उन्हों ने भी जैनत्व स्वीकारा । वे सब श्री माली कहलाए । उनके नाम से "वीसाश्रीमाली" वंश की उत्पत्ति हुई ।

✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡

लघुनीति रोके तो नेत्रपीड़ा, बड़ीनीति रोके तो प्राणहानि, (डकार) ऊर्ध्ववायु रोके तो कुष्टरोग, तीनों को रोके तो पागलपन हो जाता है ।



पञ्म विदुषि साध्वी

श्री प्रियदर्शना श्री जी महाराज



जन्म

भादों सुदि एकम

गुजरांवाला ६.९.१९३७

दीक्षा

मगसर सुदि छठ

अम्बाला २४-११-१९६०

गुरु

सा.जशवन्त श्री जी म.

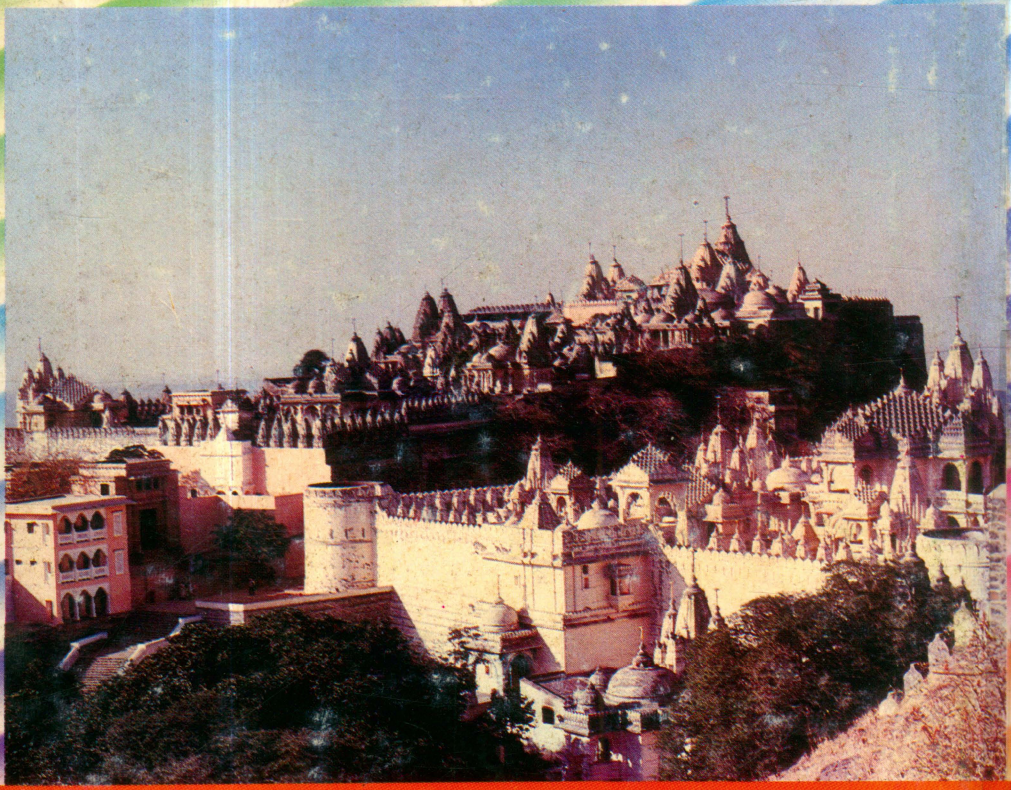
कालधर्म

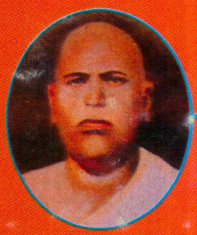
फागुण शुदि अष्टमी

सादाबाद, ३.३.१९८२

(निकट आगरा)

गिरिराज यात्रा





अब तो.....

र भये....

साधो.....

गुरू विजयानन्द स्वर्गारोहण शताब्दी पर - शत - शत वन्दन !!!